संस्कृत साहित्य का इतिहास

— द्वारिका प्रसाद एम.ए.
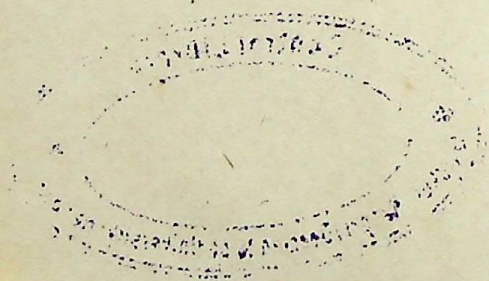
संस्कृत साहित्य का इतिहास

प्रश्नोत्तर रूप में
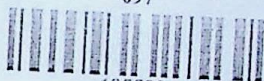
लेखक—
प्रो॰ द्वारिकाप्रसाद एम॰ ए॰
हिन्दी-संस्कृत-विभाग,
बलवन्त राजपूत कॉलेज, आगरा।
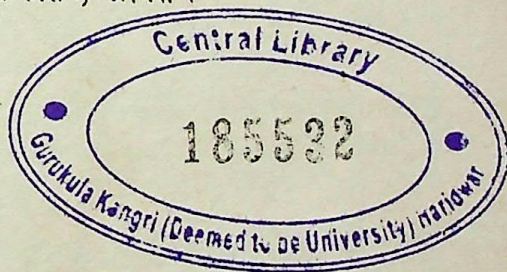
विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रकाशक—

विनोद पुस्तक मन्दिर,

हॉस्पिटल रोड, आगरा।

प्रथम संस्करण—१९५४

मूल्य २॥)

मुद्रक—

कैलाश प्रिंटिंग प्रेस,

बागमुजफ्फरखाँ, आगरा।

प्राक्कथन

हिंदी भाषा जब से राष्ट्रभाषा घोषित हुई है, तब से यहाँ संस्कृत के अध्ययन की ओर अधिक रुचि दिखाई देती है। कारण यह है कि संस्कृत ही भारत की अधिकांश प्रान्तीय भाषाओं की जननी है और हिन्दी में भी लगभग ८० प्रतिशत शब्द संस्कृत भाषा के ही प्रयुक्त होते हैं। किन्तु संस्कृत के अध्ययन में कितनी ही ऐसी अड़चनें उपस्थित होती हैं, जिनके कारण उसका पूरा-पूरा आनन्द प्राप्त नहीं होता। सब से बड़ी अड़चन यह है कि संस्कृत ग्रन्थों की व्याख्या तथा समालोचनायें या तो संस्कृत में ही लिखी हुई मिलती हैं या कुछ प्रमुख-प्रमुख ग्रंथों पर पाश्चात्य विद्वानों ने बड़ा ही सराहनीय कार्य किया है और वह समस्त कार्य अँग्रेजी में है। फिर भी संस्कृत के अन्तर्गत वैसी सुष्ठु तथा उपयुक्त आलोचनायें नहीं मिलतीं जैसी कि अँग्रेजी भाषा में मिलती हैं। साथ ही इतिहास-लेखन-प्रणाली का तो संस्कृत भाषा में सर्वथा अभाव सा ही है। क्योंकि इतना उपयुक्त एवं विस्तृत संस्कृत-साहित्य का इतिहास कोई भी संस्कृत में लिखा हुआ नहीं मिलता जो आधुनिक अध्येताओं के लिए पथ-प्रदर्शक बन सके। हाँ, अँग्रेजी भाषा में अवश्य कितने ही विस्तृत इतिहास-ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें वैदिककाल से लेकर संस्कृत के अन्तिम समय तक का इतिहास व्यवस्थित रूप में मिल जाता है। परन्तु इस समय संस्कृत-भाषा का अध्ययन करने वालों के लिए अँग्रेजी भाषा में लिखित इतिहास-ग्रंथों का समझना भी अत्यन्त दुष्कर है। दूसरे, वे सभी ग्रन्थ सर्वत्र प्राप्य भी नहीं हैं।

उपर्युक्त अड़चनों को सुगम बनाने के लिए अथवा संस्कृत भाषा का आलोचनात्मक अध्ययन करने की सुविधा के लिए हिन्दी में यह इतिहास प्रस्तुत किया जा रहा है। यद्यपि दो-चार संस्कृत साहित्य के इतिहास हिंदी में और भी निकल चुके हैं, परन्तु वे सभी न तो पूर्ण-सामग्री प्रस्तुत करते हैं और न आज के अध्ययनशील विद्यार्थियों की माँग के अनुकूल ही लिखे गये हैं। उनमें अत्यन्त अल्पमात्रा में ही

विषय-प्रतिपादन किया गया है, जो एक उच्च कक्षा के विद्यार्थी के लिए सर्वथा अपर्याप्त है। इस इतिहास-ग्रंथ का अभाव मुझे भी अपने विद्यार्थी-जीवन में अत्यधिक खटकता रहा। मैंने देखा कि कितने ही विद्यार्थी अंग्रेजी न समझने के कारण अथवा हिन्दी में संस्कृत-साहित्य का व्यवस्थित इतिहास न होने के कारण परीक्षाओं में असफल रहे। साथ ही उन्हें अंग्रेजी के सभी ग्रंथ भी नहीं प्राप्त हो सके। इन सभी असुविधाओं का विचार करके बी०ए० तथा एम० ए० के विद्यार्थियों के लिए यह इतिहास-ग्रन्थ उपस्थित किया जा रहा है, जिसमें अङ्गरेजी तथा हिंदी भाषा में उपलब्ध सभी सामग्री संगृहीत की गई है।

यूनीवर्सिटी की उच्च कक्षाओं में संस्कृत साहित्य के इतिहास के साथ-साथ भारतीय-संस्कृति के इतिहास का अध्ययन करना भी अनिवार्य है, और उसके लिए कोई भी उपयुक्त ग्रंथ हिंदी में नहीं मिलता। उस अभाव की पूर्ति के लिए भी अन्तिम अध्याय में "भारतीय-संस्कृति" पर विचार किया गया है। यद्यपि पुस्तक-विस्तार-भय से संस्कृति संबंधी अधिक अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया गया है, परन्तु फिर भी आवश्यक बातें नहीं छोड़ी गई हैं और प्राचीन भारतीय संस्कृति सम्बन्धी सभी उपलब्ध बातें दे दी गई हैं।

इस इतिहास-ग्रन्थ के निर्माण में विंटरनिट्ज़ कृत भारतीय साहित्य का इतिहास (अंग्रेजी), कीथ कृत संस्कृत साहित्य का इतिहास (अंग्रेजी), मैकडानल कृत इण्डिया पास्ट तथा संस्कृत साहित्य का इतिहास (अंग्रेजी), कैम्ब्रिज हिस्टरी प्रथम, भाग राधाकुमुद मुखर्जी कृत हिन्दू-सभ्यता (अंग्रेजी), चन्द्रशेखर पाण्डेय कृत संस्कृत साहित्य की भूमिका तथा श्री बलदेव उपाध्याय कृत संस्कृत साहित्य का इतिहास आदि ग्रन्थों से सहायता ली गई है। एतदर्थ उक्त सभी लेखकों के प्रति मैं कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। यदि इस पुस्तक से विद्यार्थी समाज का कुछ भी हित हुआ तो मैं अपने परिश्रम को सफल ही समझूँगा।

श्री गणेश-चतुर्थी,
भाद्रपद, सं० २०११ वि०

द्वारिकाप्रसाद

विषय-सूची

अध्याय १—संहिता-काल [१-३४]

अध्याय २—ब्राह्मण-काल [३५-५६]

अध्याय ३—सूत्र-काल [५६-६४]

अध्याय ४—महाकाव्य-काल [६४-८२]

अध्याय ५—पुराण-काल [८३-९०]

अध्याय ६—लौकिक साहित्य [९०-१५८]

संस्कृत-साहित्य का इतिहास

अध्याय—१

संहिता-काल

प्रश्न १—वैदिक साहित्य की विभिन्न संहिताओं, शाखाओं तथा सम्प्रदायों का सम्यक् निरूपण करते हुए संक्षेप में एक विवरण-तालिका प्रस्तुत कीजिये।

उत्तर—'वेद' शब्द विद् धातु से बना है। विद् धातु का अर्थ है उत्तम या धार्मिक ज्ञान। अतः कुरान, बाइबिल, त्रिपिटक आदि की भाँति 'वेद' किसी एक साहित्यिक रचना का नाम नहीं है, परंतु 'वेद' उस समस्त वाङ्मय का नाम है जो शताब्दियों में ही नहीं अपितु सहस्राब्दियों में जाकर ऋषियों द्वारा उपलब्ध हुआ है तथा जो ज्ञान-स्वरूप है और परम्परा से मौखिक रूप में ही चलता रहा है। यह वैदिक साहित्य संसार में सबसे अधिक प्राचीन तथा उपयोगी साहित्य है। संसार के सम्पूर्ण साहित्य में भारतीय साहित्य की श्रेष्ठता का एक मात्र कारण वैदिक साहित्य ही है। इसी के कारण आज भारतीय साहित्य को इतना गौरव प्राप्त है। आर्यों की सभ्यता और संस्कृति, समाज और धर्म आदि के जानने का एक मात्र साधन भी यही वैदिक साहित्य है। धर्म के क्रमिक विकास तथा आर्य-भाषा के मूल स्वरूप का ज्ञान भी इसी साहित्य से प्राप्त होता है। वेद हिन्दुओं के लिए तो जीवन-सर्वस्व हैं ही, परंतु इसके साथ ही संसार के अन्यान्य धर्मावलंबियों के लिए भी ये अत्यधिक उपादेय एवं महत्वशाली हैं। पाश्चात्य विद्वान् विण्टरनिट्ज़ ने इसी कारण लिखा है—"जो मनुष्य वैदिक-साहित्य के समझने

में असमर्थ रहता है वह भारतीय संस्कृति को नहीं जान सकता । इतना ही नहीं वैदिक साहित्य से अनभिज्ञ व्यक्ति बौद्ध साहित्य के रहस्य को भी समझने में असमर्थ रहता है क्योंकि बौद्ध साहित्य वैदिक साहित्य का ही नवीन विकास या नव्य रूप है ।" इतना ही लिखकर यह विद्वान शान्त नहीं रहता, उसका तो यहाँ तक कथन है कि "यदि हम अपनी ही संस्कृति के प्रारम्भिक दिनों की अवस्था को जानने के इच्छुक हैं, यदि हम सबसे पुरानी भारोपीय संस्कृति को समझना चाहते हैं, तो हमें भारत की शरण लेनी होगी, जहाँ एक भारोपीय जाति का सबसे पुराना साहित्य सुरक्षित है ।"

विभाग

वेदों के प्रधानतः दो विभाग हैं—(१) संहिता और (२) ब्राह्मण । मंत्रों के समुदाय का नाम संहिता है तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में एक प्रकार से संहिताओं के संगृहीत मंत्रों की विस्तृत व्याख्या की गई है, परन्तु मुख्य रूप से ब्राह्मण-ग्रन्थों का लक्ष्य यज्ञ का सविस्तार वर्णन करना ही रहा है । इन ब्राह्मण-ग्रन्थों के तीन भाग मिलते हैं, (१) ब्राह्मण, (२) आरण्यक और (३) उपनिषद् । ब्राह्मणों' में तो जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है संहिताओं के मंत्रों की व्याख्या के साथ-साथ यज्ञों का विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है, परन्तु 'आरण्यकों' में यज्ञों के आध्यात्मिक रूप का वर्णन मिलता । ये आरण्यक-ग्रन्थ जन साधारण से दूर जंगलों में पढ़े जाने के कारण ही सम्भवतः आरण्यक कहलाते हैं । ब्राह्मण-ग्रन्थ गृहस्थों के लिए उपादेय हैं जब कि आरण्यकों का निर्माण वानप्रस्थों के लिए हुआ होगा ऐसा जान पड़ता है । उपनिषदों से तात्पर्य ब्रह्म-विद्या से है ।

किसी देवता-विशेष की स्तुति में प्रयुक्त होने वाले अर्थ को स्मरण कराने की क्षमता वाले वाक्य 'मंत्र' कहलाते हैं और ऐसे ही मंत्रों का समुच्चय 'संहिता' के नाम से अभिहित किया जाता है । ये संहितायें चार हैं—(१) ऋग्वेद संहिता, (२) सामवेद संहिता (३) यजुर्वेद संहिता

तथा अथर्ववेद संहिता। इन संहिताओं का संकलन वेदव्यास मुनि द्वारा यज्ञ की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर किया गया था। प्रत्येक यज्ञ के लिए चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है—(१) होता (२) अध्वर्यु (३) उद्गाता और (४) ब्रह्मा। होता का कार्य यह है कि वह यज्ञ के अवसर पर देवता विशेष की प्रशंसा में मंत्रों का उच्चारण करता हुआ उस देवता का आह्वान करता है। होता के लिये जिन मंत्रों की आवश्यकता होती है वे सभी मंत्र ऋग्वेद-संहिता में संगृहीत हैं। दूसरे, अध्वर्यु का कार्य यज्ञों को विधिवत् संपादन करना है, उसके लिए आवश्यक मंत्रों का संकलन यजुःसंहिता में है। तीसरे, उद्गाता का कार्य यह है कि वह यज्ञों में आवश्यक मन्त्रों को स्वर-सहित उच्चगति से गान करे। उद्गाता का शाब्दिक अर्थ भी उच्चस्वर से गाने वाला है। उद्गाता के लिए आवश्यक का संग्रह सामवेद-संहिता में किया गया है। चौथे, ब्रह्मा का कार्य है यज्ञों का सम्यक् निरीक्षण करना। यह ब्रह्मा यज्ञ-कार्य का निरीक्षण करता रहता है, जिससे यज्ञानुष्ठान में कोई त्रुटि न हो, यदि यज्ञ में मंत्रों के उच्चारण में कोई त्रटि हो जाती है और उससे कोई विघ्न होने की संभावना होती है तो ब्रह्मा तुरन्त मंगलकारी मन्त्रों का उच्चारण करके उस विघ्न को दूर कर देता है। इस कारण इसके लिए जिन मन्त्रों की आवश्यकता होती है वे सभी मंत्र अथर्व-वेद संहिता में संगृहीत हैं। इस प्रकार ऋत्विजों द्वारा यज्ञानुष्ठान में प्रयुक्त होने वाले मंत्रों को चार संहिताओं में संगृहीत किया गया है। इन संहिताओं में सूक्तियाँ, प्रार्थनायें तथा यज्ञ-विधान सम्बन्धी मंत्र भरे पड़े हैं। पहले विभिन्न ऋषि-कुलों द्वारा अनेक संहिताओं का संकलन हुआ था, परन्तु आज कल केवल उपर्युक्त चार संहितायें ही उपलब्ध हैं। इन संहिताओं की अपनी अपनी शाखायें हैं, अपने-अपने ब्राह्मण हैं, अपने-अपने आरण्यक हैं तथा अपने-अपने उपनिषद् हैं, जिनका कि विवरण इस प्रकार है :—

(१) ऋग्वेद-संहिता

इसे केवल 'ऋग्वेद' भी कहा जाता है। यह सबसे प्राचीन है,

क्योंकि अन्य संहिताओं में इसके अनेक मन्त्र मिलते हैं। इसमें लगभग १०२८ सूक्त हैं इसकी भाषा में एक रूपता नहीं मिलती।। भाषा का अध्ययन करने पर यह पता चलता है कि ऋग्वेद किसी एक ही ऋषि की रचना नहीं है, परन्तु विभिन्न ऋषियों द्वारा विभिन्न कालों में निर्माण की हुई रचना है। ऋग्वेद-संहिता के दो प्रकार से विभाग किये जाते हैं—

(१) अष्टक, अध्याय और सूक्त।

(२) मण्डल, अनुवाक और सूक्त।

प्रथम विभाजन प्राचीन है और दूसरा उसकी अपेक्षा अर्वाचीन है तथा अधिक ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक है। दूसरे विभाजन के अनुसार सारा ऋग्वेद १० मण्डलों में विभक्त है। इन मण्डलों में संगृहीत मन्त्र-समूह 'सूक्त' कहलाते हैं; जिनकी संख्या १०२८ है। इन सूक्तों के खण्डों को "ऋचाएँ" कहते हैं। ऋग्वेद के सम्पूर्ण मन्त्रों की संख्या लगभग ११००० है, जिसमें धार्मिक कविता के साथ-साथ आख्यानों, पहेलियों, गीतों आदि में अत्यन्त उच्चकोटि का साहित्य विद्यमान है।

शाखायें—'शौनक' कथित 'चरणव्यूह' नामक परिशिष्ट ग्रन्थ में ऋग्वेद की पाँच शाखाओं का उल्लेख मिलता है। जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) शाकल, (२) वाष्कल, (३) आश्वलायन, (४) सांख्यायन और (५) मांडूकायन। परन्तु इस समय केवल प्रथम 'शाकल' शाखा ही उपलब्ध है।

प्रायः सिद्धान्त तो यह है कि किसी वेद-संहिता की जितनी शाखायें होंगी उतने ही ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् भी होंगे। परन्तु इस समय वैदिक साहित्य का अधिकांश भाग लुप्त हो गया है। अतः समस्त साहित्य के उपलब्ध न होने के कारण यह क्रम नहीं रहा है। अब तो यह देखा जाता है कि 'शाखा' किसी सम्प्रदाय की है, तो ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् किसी दूसरे सम्प्रदाय विशेष के जोड़ दिये गये हैं ऋग्वेद-संहिता के केवल दो ब्राह्मण, दो आरण्यक तथा दो उपनिषद् मिलते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं:—(१) ऐतरेय ब्राह्मण तथा कौषीतकि ब्राह्मण, (२) ऐतरेय आरण्यक तथा कौषीतकि आरण्यक

और (३) ऐतरेय उपनिषद् तथा कौषीतकि उपनिषद्। इनके अतिरिक्त एक आश्वलायन श्रौतसूत्र भी मिलता है, जिसका सम्बन्ध ऋग्वेद-संहिता से है।

(२) यजुर्वेद-संहिता

इस संहिता को केवल 'यजुर्वेद' के नाम से भी पुकारा जाता है। इसमें उन गद्य-वाक्यों का समूह है जिनका प्रयोग यजुर्वेद यज्ञ के अवसर पर किया जाता है। अतः यह वेद मुख्यतः यज्ञानुष्ठानों से ही संबन्धित है। इसके दो भेद मिलते हैं जो कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजर्वेद कहलाते हैं। कृष्ण यजुर्वेद के बारे में कहा जाता है कि वेदव्यास से वैशम्पायन मुनि ने इस वेद की शिक्षा ग्रहण की थी और वैशम्पायन से याज्ञवल्क्य मुनि ने सीखा था; परन्तु किसी कारण से वैशम्पायन मुनि याज्ञवल्क्य से रुष्ट हो गये और उन्होंने इस पठित विद्या को वापिस माँगा। गुरु की आज्ञा पर याज्ञवल्क्य मुनि ने पठित यजुषों को वमन कर दिया। उस समय वैशम्पायन के अन्य शिष्यों ने तीतर का रूप धारण करके इसे चुग लिया। इस प्रकार वमित यजुर्वेद को तीतर बनकर चुगने के कारण यह "कृष्ण यजुर्वेद" कहलाया। इसके उपरान्त याज्ञवल्क्य मुनि ने सूर्य की आराधना करके नवीन यजुषों को उत्पन्न किया, जो "शुक्ल यजर्वेद" के नाम से पुकारे जाते हैं। इन दोनों में अन्तर यह है कि शुक्ल यजुर्वेद में केवल मन्त्र ही संगृहीत हैं, उसमें विनियोग वाक्य नहीं हैं; जबकि कृष्ण यजुर्वेद में छन्दोबद्ध मन्त्र तथा गद्यात्मक विनियोगों का भी मिश्रण है। इसी मिश्रण के कारण यह वेद कृष्ण यजुर्वेद कहलाता है और किसी प्रकार का मिश्रण न रहने के कारण पहला शुक्ल यजुर्वेद कहा जाता है।

शुक्ल यजुर्वेद की संहिता का नाम "वाजसनेयि संहिता" है। कहा जाता है कि सूर्य के वाजी अर्थात् घोड़े का रूप धारण करके इसका उपदेश दिया था, इसी कारण इसका नाम 'वाजसनेयि संहिता' पड़ा। इसमें ४० अध्याय हैं। इस संहिता की दो शाखायें मिलती हैं—(१) माध्यन्दिन तथा (२) काण्व। माध्यन्दिन शाखा उत्तरी भारत में

प्रचलित है और काण्व शाखा का प्रचार दक्षिण में है। इस संहिता का ब्राह्मण शतपथब्राह्मण है तथा एक आरण्यक भी है, जो बृहदारण्यक के नाम से प्रसिद्ध है। साथही इसके दो उपनिषद् हैं जो क्रमशः ईशोपनिषद् तथा बृहदारण्योकपनिषद् कहलाते हैं। इसमें विशेष रूप से यज्ञों का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है।

कृष्ण यजुर्वेद की चार संहितायें उपलब्ध हैं, जो क्रमशः (१) तैत्तिरीय, (२) मैत्रायिणी, (३) काठक तथा (४) कठ-कपिष्ठल संहिता के नाम से प्रसिद्ध हैं। तैत्तिरीय संहिता ही सबमें प्रमुख एवं प्रसिद्ध संहिता है। इसके सात खण्ड हैं जो अष्टक या काण्डों में विभक्त हैं। प्रत्येक काण्ड में कुछ अध्याय हैं जो प्रश्न या प्रपाठक कहलाते हैं। मैत्रायिणी संहिता तो तैत्तिरीय से ही मिलती-जुलती है। केवल क्रम में कहीं-कहीं कुछ अन्तर मिलता है। यही दशा काठक संहिता की है और कठ-कापिष्ठल संहिता तो अभी अधूरी ही मिली है। पातंजलि ने अपने महाभाष्य में कृष्ण यजुर्वेद की १०१ शाखायें बतलाई हैं, परन्तु शौनक के 'चरण-व्यूह' में केवल ८६ शाखाओं का उल्लेख मिलता है। वैसे कृष्ण यजुर्वेद की शाखायें सबसे अधिक हैं। उपर्युक्त चारों संहिताओं के नाम पर इन चारों की चार शाखायें भी मिलती हैं; जैसे तैत्तिरीय संहिता की तैत्तिरीय शाखा, मैत्रायिणी संहिता की मैत्रायिणी शाखा इत्यादि। कृष्ण यजुर्वेद का एक ब्राह्मण ग्रन्थ है जो तैत्तिरीय ब्राह्मण कहलाता है; ऐसे ही एक आरण्यक है जो तैत्तिरीय आरण्यक के नाम से प्रसिद्ध है। और तीन उपनिषद् हैं जिनके नाम क्रमशः तैत्तिरीय, मैत्रायिणी तथा कठोपनिषद् हैं। इतना ही नहीं इस कृष्ण यजुर्वेद के आठ सूत्र ग्रन्थ भी मिलते हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) आपस्तम्ब कल्पसूत्र, (२) बौद्धायन श्रौतसूत्र, (३) हिरण्यकेशी कल्पसूत्र, (४) भारद्वाज श्रौत-सूत्र, (५) मानव श्रौतसूत्र, (६) मानव गृह्य सूत्र, (७) वाराह गृह्य सूत्र तथा (८) काठक गृह्यसूत्र।

(३) सामवेद-संहिता

इस संहिता को भी केवल 'सामवेद' के नाम से पुकारा जाता है।

इसका संकलन उद्गाता के लिये हुआ है जैसा कि हम पहले ही कह आये हैं। यही कारण है कि सामवेद में ऋचायें ही हैं, जिनकी संख्या १५४६ है और अधिकांश ऋचायें ऋग्वेद से ही ली गई हैं। केवल ७५ ऋचायें ही ऐसी हैं जो स्वतन्त्र हैं। शेष सभी ऋग्वेद में मिल जाती हैं। यही कारण है कि सामवेद की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जाती। यह सामवेद संहिता दो भागों में विभक्त है—(१) पूर्वार्चिक और (२) उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक को अग्नि, इन्द्र, पवमान (सोम) तथा अरण्य सम्बन्धी विषयों के आधार पर चार पर्वों में बाँटा गया है जिनके नाम क्रमशः आग्नेय पर्व, ऐन्द्र पर्व, पवमान पर्व तथा आरण्यक पर्व दिये गये हैं। दूसरे उत्तरार्चिक में दशरात्र, संवत्सर, सत्र, प्रायश्चित, क्षुद्र आदि यज्ञानुष्ठानों का विधान है। संगीत का मूल उद्गम इसी सामवेद से हुआ है। इसकी समस्त ऋचायें छंद, छंदसी अथवा छंदसिका कहलाती हैं।

इस सामवेद की सहस्रों शाखायें मानी जाती हैं, परन्तु इस समय केवल तीन शाखायें ही उपलब्ध हैं—(१) कौथुम, (२) राणायनीय तथा (३) जैमिनीय। कौथुम शाखा का प्रचार गुजराती ब्राह्मणों में है, राणा-यनीय शाखा महाराष्ट्र में प्रचलित है तथा जैमिनीय शाखा का प्रचार कर्नाटक प्रदेश में है। इन्हीं शाखाओं के आधार पर सामवेद की तीन संहितायें भी मिलती हैं, जिनके नाम क्रमशः (१) कौथुम संहिता, (२) राणायनीय संहिता तथा (३) जैमिनीय संहिता हैं। साथ ही सामवेद के चार ब्राह्मण मिलते हैं--(१) ताण्ड्य ब्राह्मण, (२) षड्विंश ब्राह्मण, (३) साम-विधान ब्राह्मण तथा (४) जैमिनीय ब्राह्मण। इसके अतिरिक्त सामवेद के दो आरण्यक एवं तीन उपनिषद् मिलते हैं; जिनमें से आरण्यकों के नाम छांदोग्य तथा जैमिनीय हैं तथा उपनिषदों के नाम क्रमशः छान्दोग्य, केन तथा जैमिनीय हैं। इतना ही नहीं सामवेद के सात सूत्र-ग्रन्थ भी मिलते हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है--

(१) कौथुक संहिता- (१) मशक कल्पसूत्र, (२) लाटय्या श्रौतसूत्र, (३) गोभिल गृह्यसूत्र।

(२) राणायनीय संहिता—(४) प्राह्यायण श्रौतसूत्र, (५) खदिर गृह्यसूत्र ।

(३) जैमिनीय संहिता-(६) जैमि० श्रौतसूत्र, (७) जैमि० गृह्यसूत्र ।

(४) अथर्ववेद-संहिता

इस संहिता को भी केवल अथर्ववेद के नाम से ही अभिहित किया जाता है। इसमें संगृहीत श्लोकों का सम्बन्ध यज्ञ से नहीं है। इसमें तो यज्ञ में उत्पन्न होने वाले विघ्नों का निवारण करने के लिये यज्ञ-संरक्षक ब्रह्मा के निमित्त मन्त्र दिये हुए हैं, जिनमें मारण, मोहन, उच्चाटन आदि क्रियाओं का विशेष वर्णन है। इस संहिता के २० काण्ड हैं, जो ३४ प्रपाठक, १११ अनुवाक, ७३१ सूक्तों में विभक्त हैं। इसमें कुल ५८४९ मन्त्र हैं जो ऋचायें कहलाते हैं। इन समस्त ऋचाओं में से लगभग १२०० ऋचायें ऋग्वेद से ली गई हैं। इस संहिता का लगभग छठा भाग गद्य में है। इसका १४ वाँ काण्ड विवाह विषयक, १८ वाँ काण्ड श्राद्ध विषयक तथा २० वाँ काण्ड सोमयज्ञ से सम्बन्धित है। इन काण्डों के मन्त्र ऋग्वेद से ही लिये गये हैं।

अथर्ववेद-संहिता की प्रायः ९ शाखायें मानी जाती हैं; परन्तु आजकल उनमें से केवल दो शाखायें ही उपलब्ध हैं। इस वेद का अध्ययन नागर ब्राह्मणों में अभी तक विद्यमान है। इसकी दो शाखाओं के नाम क्रमशः पिप्पलाद तथा शौनक हैं। पिप्पलाद शाखा की संहिता डा० बूलर को काश्मीर के अन्तर्गत खोज करते समय शारदा लिपि में लिखी हुई मिली थी। इसकी हस्तलिखित प्रति जर्मन में है। डा० राथ ने इसके प्रत्येक पृष्ठ का फोटो लेकर प्रकाशित कराया था। पतंजलि के समय में इस शाखा की संहिता का प्रचार मिलता है, क्योंकि उन्होंने अपने महाभाष्य में अथर्ववेद का प्रथम मन्त्र "शन्नोदेवीरभिष्टयः आपो" दिया है, जो आजकल प्रचलित शौनकशाखा की संहिता में नहीं मिलता, परन्तु यह मन्त्र पिप्पलाद शाखा के प्रारम्भ में ही दिया गया है। पिप्पलाद शाखा के अन्य ग्रन्थ लुप्तप्राय हैं। केवल प्रश्नोपनिषद् ही

उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त और कोई ब्राह्मण या आरण्यक नहीं मिलता। अथर्ववेद की दूसरी शौनक शाखा ही अधिक प्रसिद्ध है। इस शाखा की शौनक संहिता प्राचीन है। इस संहिता का 'गोपथ-ब्राह्मण' नामक एक ब्राह्मण-ग्रन्थ भी मिलता है तथा मुण्डक और माण्डूक्य नामक दो उपनिषद् भी उपलब्ध हैं। इतना ही नहीं इस शौनक शाखा के दो सूत्र-ग्रन्थ भी मिलते हैं, जिनके नाम क्रमशः वैतान श्रौतसूत्र तथा कौशिक गृह्यसूत्र हैं।

प्रश्न २—वेदों का निर्माण काल निश्चित करने में विण्टरनिट्ज़ ने जिन मतों को उद्धृत किया है उनका संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

उत्तर—विश्व-साहित्य में वेद अत्यन्त प्राचीन हैं। इनमें लाखों वर्ष पूर्व की मानव संस्कृति और सभ्यता का इतिहास तथा समस्त विद्याओं का मूल रूप विद्यमान है। इसी कारण भारतवर्ष के अधिकांश धार्मिक लोग इन्हें अपौरुषेय मानते हैं। उनका मत है कि ऐसी ज्ञान राशि का निर्माण किसी मानव द्वारा सम्भव नहीं। परन्तु कुछ भारतीय एवं कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों का गहन अध्ययन करके उनका निर्माण-काल निश्चय करने का प्रयत्न किया है। उन समस्त मतों को विण्टरनिट्ज़ महोदय ने अपने ग्रन्थ "भारतीय साहित्य का इतिहास" में संकलित किया है। इन मतों में शताब्दियों का ही नहीं सहस्राब्दियों का अन्तर दिखाई देता है। अतः इन मतों द्वारा किसी एक निश्चय पर पहुँचना सर्वथा कठिन है। परन्तु फिर भी विद्वानों के विभिन्न मतों पर विचार करने से वेदों के किसी सम्भावित काल का निश्चय किया जा सकता है।

(१) वेदों की तिथि निश्चित करने में सर्व प्रथम वेबर महोदय ने अपने 'भारतीय साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ में प्रयत्न किया है। उनका मत है कि भारतीय साहित्य संसार के लिखितरूप में उपलब्ध होने वाले समस्त साहित्यों में सबसे प्राचीन है। वेबर का यह कथन भूगोल

एवं धर्म के इतिहास सम्बन्धी साक्ष्य पर आधारित है। ऋग्वेद से पता चलता है कि आर्य लोग सर्व प्रथम पंजाब में आकर बसे थे। रामायण तथा महाभारत से उनका दक्षिण में फैलना प्रतीत होता है। फिर वेदों की प्रकृति पूजा से उपनिषदों की 'ब्रह्म-विद्या' तक पहुँचने में अवश्य ही पर्याप्त समय लगा होगा। साथ ही ईसा से ३०० वर्ष पूर्व मेगस्थनीज़ ने ज़िस पौराणिक एवं सांस्कृतिक साहित्य का अवलोकन किया है उसमें भी पर्याप्त समय लगना आवश्यक है। इस तरह वेदों के निर्माण में शताब्दियों का लगना सर्वथा सम्भव है और उससे प्राचीन विश्व में कोई भी लिखित साहित्य मिलता नहीं। अतः वेदों का अत्यन्त प्राचीन होना स्वतः सिद्ध है। इस प्रकार वेबर ने किसी निश्चित तिथि की ओर संकेत न करके केवल वेदों की प्राचीनता की ओर ही दृष्टिपात किया है।

(२) दूसरे विद्वान् मक्समूलर हैं, जिन्होंने अपने "प्राचीन संस्कृत साहित्य के इतिहास" में सबसे पहले एक तिथि निश्चित करने का प्रयास किया है। उनका कथन है कि बौद्धधर्म और कुछ न होकर केवल ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया है और यह (बौद्धधर्म) समस्त वैदिक साहित्य--जिसमें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् सम्मिलित हैं—की सत्ता पूर्णतया स्वीकार करता है। अतः मैक्समूलर के कथनानुसार सारा वैदिक साहित्य ईसा से ५०० वर्ष पूर्व बन चुका था। मैक्समूलर ने वैदिक-साहित्य को चार कालों में विभाजित किया है--(१) छन्दकाल (२) मन्त्र काल, (३) ब्राह्मण काल तथा (४) सूत्र काल। प्रत्येक काल के विकास में २०० वर्षों का अनुमान किया है और सूत्र-साहित्य अथवा वेदाङ्ग की रचना बौद्धधर्म की उत्पत्ति अथवा विकास के साथ ही साथ मानी है। बुद्धजी का निर्वाण ४८३ ई० पूर्व हुआ था। अतः इससे २०० वर्ष पूर्व सूत्र काल उससे २०० वर्ष पूर्व ब्राह्मण काल हुआ। इसी तरह ब्राह्मण काल से २०० वर्ष पूर्व मन्त्र काल तथा मंत्र काल से २०० वर्ष पूर्व छंद काल सिद्ध किया है। इनके कथनानुसार १२०० से १००० ई० पू० तक छंदकाल, १००० से ८०० ई० पू० तक मंत्रकाल, ८०० से ६०० ई० पू० तक ब्राह्मणकाल तथा ६०० से ४०० ई० पू० तक सूत्रकाल

ठहरता है। इस क्रम से आपने वेदों का निर्माणकाल १२०० से १००० ई० पूर्व तक माना है।

उपर्युक्त मत के निर्णय करने में मैक्समूलर ने प्रत्येक काल के विकास में जो २०० वर्ष माने हैं उनके लिये कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस त्रुटि को अनुभव करते हुए उन्होंने स्वयं अपने एक व्याख्यान में लिखा है :--

"We can not hope to fix a terminus a quo—whether the Vedic hymns were composed 1000 or 1500 or 2000 or 3000 years B. C., no power on earth will ever determine."

(Gifford Lectures)

अर्थात् वेदों के निर्माणकाल की सीमा निश्चित करने की हमें आशा नहीं है—भले ही वैदिक मन्त्र ईसा से १००० या १५०० या २००० अथवा ३००० वर्ष पूर्व रचे गये हों, परन्तु पृथ्वी पर कोई भी शक्ति ऐसी नहीं है जो इसका कभी निर्णय कर सकेगी।" इतने पर भी इनके मत को लोगों ने मान्यता दी है। व्हिटने ने तो मैक्समूलर की तिथि को ही ठीक माना है तथा श्रोडर ने अपने अध्ययन के बलपर वेदों की तिथि ईसा से १५०० या २००० वर्ष पूर्व निश्चित की है। इनके मत का आधार भी मैक्समूलर का काल-विभाजन ही है।

(३) कुछ विद्वानों ने ज्योतिष की गणना के आधार पर वेदों के काल का निर्णय किया है। जैकोबी महोदय ने वेदों में सबसे प्राचीन ऋग्वेद की रचना को ३००० ई० पूर्व बतलाया है। इन्होंने यह तिथि ज्योतिष-गणना के अनुसार निश्चित की है, जिस पर पाश्चात्य विद्वानों को बड़ा आश्चर्य हुआ था। ज्योतिष गणना के आधार पर ही लुडविग महोदय ने भी वैदिक साहित्य का काल निर्णय किया था। उनका आधार सूर्य-ग्रहण था। इस ज्योतिष विद्या का उल्लेख हमें ब्राह्मणों एवं सूत्र-ग्रन्थों में मिलता है, क्योंकि वहाँ पर अमुक नक्षत्र में अमुक यज्ञ करने का विधान बतलाया गया है। विद्वानों ने वेदों का समय

निश्चित करने में चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र आदि का समय एवं इनके सम्बन्ध की जानकारी इन्हीं ग्रन्थों से प्राप्त की है। परन्तु यह ज्योतिष गणना भारतवर्ष के लिये कोई नवीन वस्तु नहीं है। यहाँ पर सन् १८९३ में लोकमान्य तिलक ने इसी ज्योतिष गणना के आधार पर भारतीय सभ्यता का आरम्भ ६००० ई० पूर्व सिद्ध किया था। परन्तु जैकोबी ने सभ्यता का प्रारम्भ ४५०० ई० पूर्व माना था। सभ्यता का यह निर्णय 'गृह्यसूत्र' में वर्णित 'ध्रुव-दर्शन' के आधार पर किया है। परन्तु ऋग्वेद में विवाह के अवसर पर 'ध्रुव दर्शन' जैसे किसी कार्य का वर्णन नहीं मिलता। संहिता-काल निश्चित रूप से सभ्यता के विकास के उपरान्त ही आता है। अतः तिलकजी ने वेदों का निर्माण काल ६००० ई० पूर्व से कुछ बाद में माना है ; परन्तु जैकोबी ने ३००० ई० पूर्व सिद्ध किया है।

(४) शिलालेखों से यह प्रमाणित होता है कि ईसा से ३०० वर्ष पूर्व भारतीय आर्यों ने दक्षिण पर विजय प्राप्त कर ली थी। परन्तु बुलर महोदय का कथन है कि ७०० या ६०० ई० पूर्व तक दक्षिण में ब्राह्मण धर्म का प्रभाव आर्य विजय के कारण स्थापित हो चुका था। इसी आधार पर उन्होंने यह अनुमान लगाया है कि १२०० या १५०० ई० पूर्व लगभग आर्य लोग भारत के उत्तरी कोने तथा अफगानिस्तान के आस पास बसे हुए थे, तभी वेदों का निर्माण हुआ होगा। बुलर का यह कथन सर्वथा असम्भव प्रतीत होता है। वास्तव में आर्य-विजय एवं ब्राह्मण धर्म का ऐसा प्रचार करने के लिए जिसमें बौद्धायन तथा आपस्तम्ब जैसे सम्प्रदाय उत्पन्न हों कम से कम दुगुना समय अपेक्षित है। बुलर के इस कथन का आधार उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीका के विकास का काल है, क्योंकि उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीका के बनने में लगभग ४०० वर्ष लगे थे। इसी कारण आपने ४०० वर्ष का समय दक्षिण में ब्राह्मण-धर्म के लिए सिद्ध किया है। बुलर के इस मत का खंडन करते हुए ओल्डनबर्ग ने लिखा है कि अमरीका में दोनों दलों की सभ्यता में महान अन्तर था। अतः वहां कार्य शीघ्र सम्पन्न हो गया और केवल ४०० वर्ष ही लगे, परन्तु भारत में दोनों सभ्यताओं में पर्याप्त साम्य

था। अतः अधिक समय लगना चाहिए। दूसरे, महाकाव्यों से भी यही सिद्ध होता है कि ये युद्ध कई शताब्दियों तक चलते रहे। अतः बुलर का यह अनुमान उचित नहीं जान पड़ता। तीसरे, वेदों को श्रुति कहा जाता है। अतः वैदिक साहित्य के लिखित रूप में आने से पहले ही वैदिक मंत्रों की रचना हो चुकी थी। पहले मौखिक रूप में गुरु शिष्यों को पढ़ाया करते थे और इसी गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा मौखिक वेद-मन्त्रों का पाठ होता रहता था। इस तरह मौखिक मंत्रों का संहिता के रूप में संकलन होने में कितनी ही शताब्दियाँ लगी होंगी। ऐसे ही ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों के विकास में भी कितनी ही शताब्दियाँ लगना सम्भव है। यह तो निर्विवाद सत्य है कि वैदिक साहित्य का आरम्भ होने से अन्त तक आर्य लोग सिंधु नदी से गंगा तक के प्रदेश पर ही अपना अधिकार कर पाये थे। अतः दक्षिण-विजय में और कई शताब्दियाँ लगी होंगी। इस तरह बुलर का दक्षिण-विजय के आधार पर वेदों को १२०० या १५०० ई० पूर्व बतलाना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

(५) सन् १९०७ ई० में एशिया माइनर के अन्तर्गत बोगस्को (Boghazkoi) नामक स्थान पर निकली हुई मिट्टी की गोलियों को देखकर ह्यूगो विंकलर नामक अंग्रेज विद्वान ने कुछ नवीन खोज की थी, जिसका वैदिक साहित्य एवं संस्कृति के काल-निर्णय पर कुछ नवीन प्रकाश पड़ा है। बोगस्को में खोदने पर कुछ मिट्टी की गोलियां निकली थीं। उन गोलियों को हिट्टाइट राजधानी से प्राप्त करके ह्यूगो विंकलर ने देखा कि उन पर १४०० ई० पूर्व में राजवंश के अन्तर्गत होने वाली संधि के अवसर पर राज्य-परिवार के देवताओं के साथ-साथ मित्र, इन्द्र, वरुण, नासत्यौ आदि वैदिक देवताओं के नाम भी संधि-संरक्षणों के रूप में अंकितहैं। इस विषय में मेयर का मत है कि उस समय (१४०० ई० पूर्व) भारतीय तथा ईरानी भाषा एवं धर्म की दृष्टि से एक थे। आर्य लोग फिर आगे बढ़ते गये। प्रमाण के लिये ऋग्वेद से ऐसे कितने ही मंत्र उद्धृत किये जा सकते हैं जिनकी रचना १५०० ई० पूर्व के लगभग

हुई होगी। गिल्स महोदय का भी यही मत है। परन्तु ओल्डनवर्ग का मत है कि ये देवता पश्चिमी प्रदेशों की किसी ऐसी धार्मिक शाखा से संबंधित हैं, जिसकी संस्कृति और धर्म का भी वही स्रोत था जो भारतीय धर्म संस्कृति का है। अतः इससे वेद अति प्राचीन सिद्ध नहीं होते। इन गोलियों पर देवताओं के नाम अंकित होने के कारण विण्टरनिट्ज़ महोदय ने जैकोबी, कोनोव तथा हिलवर्ण्ट का समर्थन करते हुए इन देवताओं को तो भारतीय माना है, परन्तु अन्य सभी बातें निराधार बतलाई हैं और लिखा है कि बोगस्को के नामों से यही सिद्ध होता है कि वैदिक देवताओं को पूजने वाली आर्य जाति लगभग २००० ई० पूर्व में उत्तरी-पश्चिमी भारत में स्थापित हो चुकी थी और उसी जाति के बहुत से लोग लगभग १४०० ई० पू० में पश्चिमी देशों में भी चले आये और वहाँ आकर रहने लगे। अतः इन गोलियों से वेदों का रचना-काल १४०० ई० पू० सिद्ध नहीं होता।

(६) जे० हरटल का कथन है कि ऋग्वेद की रचना लगभग १५० ई० पूर्व में ईरान के अन्तर्गत हुई थी। जी० हुसिंग के विचारों के आधार पर हरटल ने लिखा है कि लगभग १००० ई० पूर्व में भारतीयों ने आरमेनिया से अफगानिस्तान की ओर चलना आरम्भ कर दिया था, जहाँ पर कि वे ऋग्वेद काल में निवास करते रहे और इसके बहुत काल पश्चात् भारत की ओर बढ़े। इस तरह ऋग्वेद भारत में न बनकर ईरान में रचा गया। ब्रुन होफर के सुझाव पर हरटल ने स्वीकार किया है कि ऋग्वेद में वर्णित कनित पृथुश्रवा पूर्ण रूप से सिथियन राजा कनित से मिलता जुलता है। इस राजा कनित का नाम यूनानी शिलालेखों व सिक्कों पर मिलता है और यह राजा २०० ई० पूर्व हुआ था। इसी नाम के आधार पर हरटल का कथन है कि २०० ई० पू० तक ऋग्वेद संहिता का संकलन नहीं हुआ था। इस तरह इस विद्वान द्वारा ऋग्वेद के लिए यह तिथि निश्चित करना एक अत्यन्त नवीन मत का द्योतक है। ऋग्वेद को नवीनतम रूप देने का दूसरा कारण यह भी है कि ऋग्वेद तथा अवेस्ता की भाषा में परस्पर अधिक साम्य है। परंतु भाषा का कोई

पुष्ट आधार नहीं है क्योंकि बहुत सी भाषायें शीघ्र बदल जाती हैं और बहुत सी भाषाओं में देर से परिवर्तन होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त मतों को उद्धृत करते हुए विण्टरनिट्ज ने लिखा है कि भूगर्भ विद्या तथा ज्योतिष गणना के आधार पर जो तिथियाँ निश्चत की गई हैं वे प्रामाणिक नहीं मानी जा सकतीं, क्योंकि वेद मंत्रों के अर्थों में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। जब तक वेद-मंत्रों के अर्थों में एकरूपता नहीं आती तब तक उससे ज्योतिष के स्थलों से कुछ अर्थ निकाल कर वैदिक काल के निर्णय करने का प्रयत्न करना सर्वथा उपहासास्पद ही है। दूसरे, ऐतिहासिक विचार भी बड़े ही अनिश्चित हैं। बोगस्को की गोलियों पर जो नामों का उल्लेख मिला है तथा वेद और अवेस्ता की भाषा या सभ्यता आदि की परस्पर समता देख कर जो वेदों की तिथि निश्चित की गई है उसके लिये विद्वानों के कितने ही विरोधी विचार उपलब्ध हैं। अतः इन आधारों पर भी वेदों का रचना-काल निश्चित नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार बाह्य साक्ष्य के असफल हो जाने पर अन्तर्साक्ष्य अर्थात् भारतीय साहित्य व इतिहास से उपलब्ध प्रमाणों पर वैदिक साहित्य की तिथि निश्चित करने पर निर्भर होना पड़ता है। इसके लिए महावीर तथा पार्श्व जैन और बौद्ध साहित्य द्वारा वैदिक साहित्य की तिथि निश्चित करने में पर्याप्त सहायता मिलती है। क्योंकि यह तो निर्विवाद सत्य है कि जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों की अपेक्षा वैदिक साहित्य प्राचीन है। यदि मैक्समूलर के आधार पर हम वैदिक साहित्य का आरम्भ १२०० या १५०० ई० पू० मानें तो इस विशाल वाङ्मय के विकास का ठीक पता नहीं लग सकता, क्योंकि इतने थोड़े समय में इतना विस्तृत एवं महान् वाङ्मय बन नहीं सकता। फिर भी अनुमानतः इसका आरम्भ लगभग २५०० या २००० ई० पूर्व तथा अन्त ४५० या ५०० ई० पूर्व स्वीकार करना पड़ता है। इतना होने पर भी सबसे अधिक बुद्धिमानी तो इस बात में हैं कि हम वैदिक साहित्य की कोई निश्चित तिथि न मानें और इसके अत्यन्त प्राचीन तथा अत्यंत नवीनतम रूप देने की उपाहासास्पदता तथा मूर्खता से बचे रहें।

प्रश्न ३—ऋग्वेद के रचना-काल, रचना-क्रम तथा वर्ण्य विषय की पूर्ण समीक्षा कीजिये।

उत्तर—चारों वेदों में ऋग्वेद अत्यन्त प्राचीन माना जाता है। इसके मंत्रों में कोई ऐसी बात नहीं मिलती जिसके आधार पर इसके रचना-काल का निर्णय हो सके। परन्तु फिर भी विद्वानों ने इसका काल निर्णय करने में अपने-अपने मत स्थापित किये हैं। मैक्समूलर ने ऋग्वेद की तुलना यूनानी साहित्य से करके यह अनुमान किया है कि ऋग्वेद का निर्माण १२०० या १५०० ई० पूर्व में हुआ होगा। इस काल को मेकडानल तथा कीथ ने भी स्वीकार किया है। जेकोबी ने ज्योतिष गणना के आधार पर ऋग्वेद का समय ३००० ई० पू० निश्चित किया है तथा लोकमान्य तिलक ने भारतीय सभ्यता का आरम्भ ६००० ई० पू० मानते हुए ऋग्वेद को उसके कुछ ही बाद का माना है। परन्तु विंटरनिट्ज़ महोदय ने उक्त सभी विद्वानों की आलोचना करते हुए ऋग्वेद को समय २५०० ई० पूर्व के लगभग स्थापित किया है। उक्त सभी विद्वानों के मतानुसार यह तो निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि ऋग्वेद १२०० या १५०० ई० पूर्व अवश्यमेव विद्यमान था। साथ ही अन्य तीनों वेदों—यजु, साम, अथर्व—की अपेक्षा ऋग्वेद अधिक प्राचीन है। इसका कारण यह है कि इसकी भाषा अन्य तीनों वेदों की अपेक्षा विभक्ति तथा क्रिया को दृष्टि में रख कर अधिक प्राचीन है। दूसरे, पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार ऋग्वेद किसी एक काल-विशेष की रचना नहीं है। भिन्न-भिन्न कालों में इसके भिन्न-भिन्न अंशों का प्रणयन हुआ है और आगे चलकर जब सभी का संकलन हो गया, तो यह ऋग्वेद-संहिता के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार वशिष्ठ, गृत्समद आदि जिन ऋषि-मुनियों को ऋग्वेद का प्रणेता माना गया है, वे सभी इसके वास्तविक निर्माता नहीं है, अपितु वास्तविक प्रणेताओं का नाम ज्ञात न होने के कारण इन ऋषियों को ही ऋग्वेद का प्रणेता मान लिया गया है।

ऋग्वेद में सब मिलाकर १०२८ सूक्त हैं, जो १० मण्डलों में विभक्त हैं। दूसरे मंडल से सातवें मंडल तक का भाग अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन है, जिनके प्रणेता क्रमशः गृत्स्मद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज तथा वशिष्ठ माने जाते हैं। ये मंडल अष्टकों में विभक्त हैं, जिन्हें अध्याय कहा जा सकता है। आठवें मंडल के सूक्तों को कण्व वंश तथा अंगिरा गोत्र के ऋषियों ने प्रस्तुत किया है। पहले, नवें तथा दसवें मंडल की रचना सबसे बाद में हुई है। इनमें से प्रत्येक सूक्त के पृथक्-पृथक् ऋषि हैं, जिनके नाम अनुक्रमणिका में पाये जाते हैं। इन ऋषियों में से कुछ पुरुष तथा कुछ स्त्रियाँ भी हैं, जैसे पुरुरवा, इन्द्र, उर्वशी, शची, वृषाकपि, पौलोमी, यम-यमी आदि। इस विभाजन का यह तात्पर्य नहीं है कि दूसरे से लेकर सातवें मंडल तक में कोई पीछे की रचना नहीं है और पहले, दसवें आदि में कोई प्राचीन रचना नहीं है। यह विभाजन तो केवल संख्या बाहुल्य की दृष्टि से ही किया गया है।

नवें मण्डल के सूक्तों में एकरूपता मिलती है। उनका देवता 'सोम' है। सोम एक पौधे का नाम है, जिसे कूट कर एक प्रकार का आसव तैयार किया जाता था और जिसे यज्ञ के अवसर पर पान किया जाता था। ईरान के देवता भी सोम के समान ही एक प्रकार का आसव पान किया करते थे जिसे वे 'होम' कहते थे। उनके धर्म-ग्रंथ अवेस्ता में लिखा है कि इस होम को पीकर वे लोग बड़े प्रसन्न होते थे। ऋग्वेद तथा अवेस्तो दोनों में सोम का प्रयोग चन्द्र तथा लता विशेष के लिए हुआ है। अतः यह ज्ञात होता है कि नवें मंडल की रचना इण्डोई-रानी समय में ही समाप्त हो चुकी थी। यह मण्डल बहुत पीछे का रचा गया माना जाता है। यह सत्य भी ऋग्वेद की प्राचीनता का द्योतक है।

भौगोलिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों के आधार पर भी ऋग्वेद का प्राचीनतम होना सिद्ध होता है। ऋग्वेद में आये हुए वर्णनों से स्पष्ट है कि आर्य लोग केवल पंजाब में ही उस समय तक बसे थे, क्योंकि पंजाब की पाँच नदियों का ही विशेष वर्णन मिलता है। यमुना

का केवल तीन बार और गंगा का केवल एक बार वर्णन आया है। कमल का फूल जो उत्तरकालीन साहित्य में अत्यधिक प्रभाव रखता है इसमें उसका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। धान्यादि में चावल का वर्णन नहीं के बराबर है तथा बंगाल के चीते का भी वर्णन नहीं मिलता। इन समस्त वर्णनों से यही सिद्ध होता है कि ऋग्वेद-काल में आर्य लोग पंजाब को पार नहीं कर पाये थे।

ऋग्वेद के आर्यों का मुख्य व्यवसाय पशुपालन था। इनका मुख्य पशु गविष्ठ था। युद्ध भी इसी गाय के कारण ही हुआ करते थे। उस समय कृषि के व्यवसाय में पूर्णतः उन्नति नहीं हुई थी। धान तथा जौ की ही खेती विशेष रूप से होती थी। गोबध का निषेध पूर्णतया नहीं मिलता, परन्तु गाय के लिए एक 'अघन्या' शब्द मिलता है, जिसका अर्थ है वह गाय जो मारी न जाय। इससे सिद्ध होता है विशेष परिस्थितियों में ही गो-बध होता था। व्यवसायियों में रथकार, बढ़ई, चमार, सुनार, शिल्पकार एवं नाविक आदि का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है।

ऋग्वेद-काल में वर्ण-व्यवस्था नहीं थी। केवल एक श्लोक में चारों वर्णों का उल्लेख आया है। यह श्लोक प्रक्षिप्त माना जाता है। फिर भी वर्ण-व्यवस्था का बीज ऋग्वेद में मिलता है। वैसे उस समय खान-पान की कोई रोक-टोक न थी। ऋग्वेद में एक प्रथा का उल्लेख अवश्य मिलता है कि सभी राजाओं के यहाँ यज्ञ कराने के लिए पुरोहित रहा करते थे। परन्तु बिना पुरोहित के यज्ञ करने का वर्णन भी ऋग्वेद में मिलता है। ऋग्वेद में पति-पत्नी दोनों का साथ-साथ यज्ञानुष्ठान करना वर्णित है किन्तु मनु ने पीछे से स्त्री के लिए यज्ञ करना निषिद्ध ठहराया था। ऋग्वेद से पता चलता है कि आर्यों को परलोक की चिन्ता उस समय उतनी न थी जितनी कि उनके वंशजों में १००० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक पाई जाती है। ऋग्वेद में पुनर्जन्म के बारे में भी संकेत नहीं मिलता। उस समय आर्यों की दृष्टि प्रमुख रूप से वर्त्तमान जीवन की ओर ही रहती थी। वे लोग यहीं पर आनंद के साथ आमोद-प्रमोद करना श्रेयस्कर समझते थे। संसार से निवृत्ति, जीवन से पराङ्-

मुखता, साधुवृत्ति तथा निराशापूर्ण जीवन का सम्बन्ध ऋग्वेदकालीन आर्यों के जीवन से नहीं था।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऋग्वद की विशेषता उसकी धार्मिकता से है। वैसे आर्य जाति की प्रेरणा जितनी अनेकमुखी थी, उतनी ही अनेकमुखी होकर वह प्रवाहित भी हुई थी, परन्तु उसमें सर्वत्र धार्मिकता का ही प्राधान्य । रहा। यही कारण है कि ऋग्वेद के वर्ण्य विषय में देवताओं का ही वर्णन प्रमुख रूप से पाया जाता है किन्तु उस वर्णन में उच्चकोटि के साहित्य के दर्शन होते हैं। ऋग्वेद में मुख्यता देवताओं का ही वर्णन मिलता है। यास्क ने ऋग्वेद के इन देवताओं को तीन भागों में बाँटा है—(१) पृथ्वी स्थान, (२) अन्तरिक्ष स्थान तथा (३) द्युस्थान। इनमें से पृथ्वी वालों में अग्नि सर्वश्रेष्ठ है, अन्तरिक्ष वालों में इन्द्र का स्थान सर्वोच्च है तथा द्युस्थान वालों में सौर देवताओं को प्रमुखता प्राप्त है। परन्तु ये देवता पौराणिक देवताओं से सर्वथा भिन्न हैं। पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की प्रतिष्ठा है। ऋग्वेद में इन्द्र तथा सूर्य की प्रधानता है। प्राकृतिक शक्तियों से प्रभावित होकर उनको भी आर्यों ने देवता मान लिया था। इसके अतिरिक्त कुछ दूसरे देवता भी हैं जो अब तो प्राकृतिक प्रतीत नहीं होते, परन्तु कभी ऐसे अवश्य रहे होंगे। उन देवताओं में से मरुत, वरुण, इन्द्र, विष्णु, आदिति, पूषण, अश्विनीकुमार, रुद्र, पर्जन्य, मित्र, सवितर, विवस्वत् आदि हैं। ऋग्वेद के विष्णु, पुराणों के विष्णु से सर्वथा भिन्न हैं। मित्र का वर्णन अवेस्ता में 'मित्थ्' के रूप में मिलता है। सम्भवतः मित्र, पूषण, विष्णु आदि सभी नाम सूर्य के ही रहे हों। इनके अलावा कुछ ऐसे भी देवता मिलते हैं जिनकी उत्पत्ति भाव या मन से हुई है जैसे प्रजापति, श्रद्धा तथा मन्यु। इनके साथ ही ऋग्वेद में कुछ निम्न कोटि के देवताओं का भी वर्णन मिलता है जो ऋभु, अप्सर तथा गंधर्व के नाम से प्रसिद्ध हैं और भूत-प्रेतों से सम्बन्ध रखते हैं। ऋग्वेद में दास या दस्यु का वर्णन भी मिलता है जो सम्भवतः यहाँ के आदि निवासियों, राक्षसों अथवा पिशाचों से सम्बन्ध रखता है। ऋग्वेद में असुर का भी वर्णन मिलता

है। पहले 'असुर' शब्द का अभिप्राय किसी विनाशक शक्ति से न था अपितु ये भी अन्य देवताओं की ही भाँति अद्भुत शक्ति सम्पन्न देवता थे। ऋग्वेद तथा अवेस्ता दोनों में 'असुर' शब्द का प्रयोग देवता के लिए ही हुआ है। उस काल में वरुण एक महान् असुर थे। ऋग्वेद में मृत-पूर्वजों का भी देवताओं की कोटि में ही वर्णन किया गया है। पितर भी देवता ही माने गये हैं। इस प्रकार देवताओं की प्रार्थनाओं से ही ऋग्वेद का समस्त कलेवर सम्पृक्त है, जिसमें उच्चकोटि की कविता के दर्शन होते हैं।

ऋग्वेद में कुछ दूसरी श्रेणी का भी साहित्य मिलता है, जिसमें आख्यान आदि के सूक्त, वेदान्त सम्बन्धी मंत्र, द्यूतक्रीड़ा संबंधी सूक्त, दान स्तुतियाँ, कुछ यज्ञ के अवसर पर पूँछी जाने वाली पहेलियाँ तथा देहातियों एवं अहीरों के व्याधि निवारणार्थ सूक्त भी मिलते हैं।

ऋग्वेद में जो छंद मिलते हैं उनका ही विकसित रूप आगामी वैदिक साहित्य में दिखाई देता है। ये छंद ऋग्वेद में पूर्णतया अविकसित हैं। कुछ छन्द तो उत्तरकालीन काव्यों में बिल्कुल ही दिखाई नहीं देते! केवल गायत्री तथा अनुष्टुप का ही आगे चलकर अधिक प्रयोग मिलता है। गायत्री का प्रयोग तो अनुष्टुप से भी अधिक किया गया है तथा पंक्ति, महापंक्ति, जगती, त्रिष्टुप का प्रयोग तो और भी कम मिलता है। इस प्रकार ऋग्वेद के इन छन्दों में मंत्रों तथा गीतों के अंतर्गत धार्मिक एवं धर्मेतर कविता का अत्यन्त भव्य रूप विद्यमान है, जिसमें से पर्याप्त भाग आज लुप्त हो गया है, परन्तु जितना भी उपलब्ध है, उसी के आधार पर ऋग्वेद की महत्ता एवं प्रतिष्ठा सारे संसार में व्याप्त है।

प्रश्न ४—यजुर्वेद की विभिन्न संहिताओं एवं उनके वर्ण्य-विषय की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।

उत्तर—कहा जाता है कि यज्ञ-क्रियाओं का सुचारु रूप से सम्पा-

दन करने के लिए व्यास जी ने ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व संहिता का सङ्कलन किया था। वैदिक यज्ञों में होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा ये चार ऋत्विज प्रमुख होते थे। अतः होता सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऋक् संहिता, उद्गाता के लिए साम-संहिता, ब्रह्मा के लिये अथर्व-संहिता तथा अध्वर्यु के लिए यजुः संहिता का सङ्कलन किया गया। यज्ञों में अध्वर्यु का कार्य किसी देवता विशेष के मंत्रों का उच्चारण करते हुए यज्ञ की विधियों का सम्पादन करना होता है। अतः यजु-संहिता अध्वर्यु का स्तोत्र है। मुख्यरूप से इस वेद का संबन्ध इसीलिए यज्ञानुष्ठानों से ही माना गया है। यह वेद दो भागों में विभक्त है— (१) कृष्ण यजुर्वेद तथा (२) शुक्ल यजुर्वेद। कृष्णयजुर्वेद में मन्त्रों तथा विनियोग दोनों का सम्मिश्रण है; किंतु शुक्लयजुर्वेद में केवल यज्ञ संबन्धी मंत्र ही संगृहीत हैं। पातंजलि महाभाष्य में यजुर्वेद की १०१ शाखाओं का उल्लेख मिलता है, परन्तु शौनक ने अपने चरणव्यूह में केवल ८६ शाखाओं का विवरण दिया है। यजुर्वेद की इतनी शाखाओं का होना कोई असम्भव बात नहीं, क्योंकि भौगोलिक क्रम के अनुसार ही इस वेद पर वैयक्तिक एवं प्रादेशिक छाप पड़ना स्वाभाविक था तथा यज्ञानुष्ठानों के विषय में मतभेद होने से भिन्न-भिन्न वर्गों की विभिन्न शाखायें हो जाना भी स्वाभाविक था। परन्तु इस समय कृष्ण यजुर्वेद की चार तथा शुक्ल यजुर्वेद की केवल दो शाखायें ही प्राप्त हैं। कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखाओं के नाम क्रमशः तैत्तिरीय संहिता शाखा, मैत्रायिणी संहिता शाखा, काठक संहिता शाखा तथा कठकापिष्ठल संहिता शाखा हैं। इनमें तैत्तिरीय संहिता ही अधिक प्रसिद्ध एवं प्रधान है। इसे 'आपस्तम्ब संहिता' भी कहा जाता है। इसमें सात खण्ड हैं जो अष्टक या काण्डों में विभक्त हैं। प्रत्येक काण्ड में कुछ अध्याय हैं जिन्हें प्रश्न या प्रपाठक कहते हैं। मैत्रायिणी और काठक दोनों संहितायें तैत्तिरीय संहिता से मिलती-जुलती हैं। केवल उनके क्रम में अन्तर है। कठकापिष्ठल शाखा की संहिताका केवल कुछ हस्तलिखित अंश ही प्राप्त हुआ है। इस कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्रीयोपनिषद्, मैत्रायिणी

उपनिषद् तथा कठोपनिषद् और तैत्तिरीय आरण्यक है। शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखायें मिलती हैं—(१) काण्व तथा (२) माध्यन्दिन। काण्व का प्रचार दक्षिण में है तथा माध्यन्दिन शाखा उत्तरी भारत में प्रचलित है। इसकी एक प्रमुख संहिता है जो 'वाजसनेयि संहिता' के नाम से प्रख्यात है। इस संहिता का उपदेश सूर्य ने बाजी (घोड़े) का रूप धारण करके दिया था, इसी कारण इसका नाम 'वाजसनेयि संहिता' पड़ा है। शुक्ल यजुर्वेद की यही संहिता सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसके बृहदारण्यक, ईशोपनिषद् तथा शतपथ ब्राह्मण भी सर्व मान्य ग्रंथ हैं।

यजुर्वेद के वर्ण्य विषय का ज्ञान एक मात्र 'वाजसनेयि-संहिता' के अध्ययन से हो सकता है। कारण यह है कि यह संहिता समस्त यजुर्वेद की प्रतिनिधि है। इस संहिता में ४० अध्याय हैं तथा सारी संहिता यज्ञ सम्बन्धी क्रियाओं एवं विधियों से परिपूर्ण है इन ४० अध्यायों में से प्रथम २५ अध्याओं में आर्यों के महान यज्ञों का सांगोपांग वर्णन है। पहले तथा दूसरे अध्याय में दर्श, पौर्णमास्य यज्ञ, पितृ यज्ञ तथा पिंड यज्ञ आदि के प्रार्थना सम्बन्धी मंत्र हैं। तीसरे अध्याय में दैनिक अग्निहोत्र, चातुर्माष्यादिक अग्निहोत्र, ऋतुयज्ञ आदि का वर्णन है। चौथे से आठवें अध्याय तक सोमयज्ञ, पशुयज्ञ, तथा वाजपेयि यज्ञ आदि का विधान दिया गया है। वाजपेयि यज्ञ शक्ति बढ़ाने के लिये होता था और इसका सम्बन्ध मुख्यतया क्षत्रियों से होने के कारण इस यज्ञ के वर्णन में रथों की दौड़ का प्रदर्शन तथा सुरापान आदि का उल्लेख भी मिलता है। इन्हीं अध्यायों में राजसूय यज्ञ का भी विधान दिया हुआ है, जिसका कि प्रायः सभी हिन्दू-ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। यह यज्ञ सैनिक यात्रा का प्रतीक माना जाता था। इसके अन्तर्गत बहुत से महोत्सव, सम्मेलन, द्यूतक्रीड़ा, आदि के उल्लेख मिलते हैं। नवें तथा दसवें अध्याय में इस यज्ञ सम्बन्धी देवताओंकी प्रार्थनाएँ हैं। ग्यारहवें से अठारहवें अध्याय तक अग्नि-चयन सम्बन्धी प्रार्थनाएँ दी गई हैं। उन्नीसवें अध्याय से इक्कीसवें अध्याय तक प्रसिद्ध 'सौत्रामणि-यज्ञ' का विधान दिया हुआ

है। 'सौत्रामण्यां सुरां पिबेत' के अनुसार यह यज्ञ विशेष रूप से सुरा-पान करने वालों का है। बाईसवें अध्याय से पच्चीसवें अध्याय तक आर्यों के महान अश्वमेध यज्ञ का वर्णन मिलता है। यह यज्ञ केवल चक्रवर्ती राजा ही किया करता था। छब्बीसवें अध्याय से पेंतीसवें अध्याय तक जितने अध्याय हैं वे सभी 'खिल' कहलाते हैं, जिनमें परि-शिष्ठ के रूप में विविध यज्ञों का निर्देष किया गया है। वास्तव में ये खिल उन्तालीसवें अध्याय तक चले गये हैं। तीसवाँ अध्याय बिल्कुल नवीन प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें प्रार्थना-मन्त्र न होकर पुरुषमेध यज्ञ में बलि दिये जाने वाले १८४ पुरुषों की संख्या गिनाई गई हैं। शेष खिलों में पुरुषमेध, सर्वमेध, अन्येष्टि क्रिया तथा प्रवर्ग्य नामक संस्कार का विधान दिया गया है। इस वाजसनेयि संहिता का चालीसवाँ अध्याय प्रसिद्ध 'ईशोपनिषद्' है, जो अन्त में जोड़ा गया प्रतीत होता है। इतना ही नहीं इस संहिता के अन्तिम अध्यायों को सम्भवतः पीछे से ही जोड़ा गया मालूम पड़ता है क्योंकि इसका प्रमाण यह है कि कृष्ण यजुर्वेद-संहिता के मन्त्र वाजसनेयि संहिता के पूर्वार्द्ध से ही बहुत कुछ मिलते हैं उत्तरार्द्ध से नहीं। इस प्रकार यज्ञ की विविध विधियों तथा उनके तत्वों का विवेचन करने के लिए ही यजुर्वेद की रचना हुई। यज्ञ ही इसका प्रमुख विषय है। इसमें छोटी-छोटी ऋचायें तथा गद्य के छोटे छोटे वाक्य हैं। परन्तु यह गद्य भी कहीं-कहीं संगीतात्मक तथा काव्यमय हो गया है।

यजुर्वेद की समस्त ऋचायें प्रायः ऋग्वेद से ही ली गई हैं। उनमें जो कुछ परिवर्तन दिखाई देता है वह उन्हें यज्ञानुकूल बनाने के कारण हो गया है। परन्तु ऋग्वेद का पूरा-पूरा मन्त्र शायद ही कहीं यजुर्वेद में मिले। अधिकांश उन मन्त्रों के चरण मात्र ही मिलते हैं, जो कि ऋग्वेद के प्रसंगों से निकाल कर रख लिये गये हैं और उन्हें यज्ञ तथा संस्कारों के अनुकूल बना लिया गया है। इसके यज्ञ सम्बन्धी प्रार्थना मन्त्र, जैसे "अग्नेय स्वाहा', 'इन्द्राय स्वाहा' तथा विघ्न, हिंसा अथवा सम्मोहन संबन्धी मंत्र जैसे, 'औषधे जयस्व'—आदि छोटे-छोटे वाक्यों में कहे गये

हैं। यजुर्वेद में ऋग्वेद की तरह देवताओं को आमिन्त्रत करके बड़ी लंबी चौड़ी स्तुतियाँ भी कही गई हैं। इसमें अरणि से अग्नि-उत्पादन का भी विधान वर्णित है। अरणि के दोनों बाँसों को अग्नि रूप पुत्र के माता-पिता कहकर सम्बोधन किया गया है तथा उनमें पुरुरवा एवं उर्वशी जैसे प्रेम का वर्णन भी किया गया है। कहीं-कहीं अथर्ववेद के समान विघ्न-कारियों के लिये अभिशापों का भी वर्णन मिलता है। साथ ही कुछ स्पष्ट पहेलियाँ भी मिलती हैं। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि यजुर्वेद के संस्कार एवं यज्ञों का उद्देश्य देवताओं की पूजा करना नहीं, प्रत्युत उन देवताओं पर प्रभाव डालकर यजमानों की इच्छा पूर्ण कराने के लिए उन्हें विवश करना है। देवों को प्रसन्न करने के लिए उन्हें अनेक नामों से पुकारा गया है। इसी बहुनाम प्रणाली के आधार पर आगे चल कर विष्णु सहस्रनाम आदि की रचना हुई। तैत्तिरीय एवं बाज-सनेयि संहिता में ऐसे कितने ही स्थल आते हैं जहाँ देवोंको अनेक नामों से सम्बोधन किया गया है। बाजसनेयि संहिता के २६ वें अध्याय में शतरुद्रीय अर्थात रुद्र के सौ नाम वाली प्रार्थना है।

यजुर्वेद के प्रार्थना-मंत्र अत्यन्त महत्वशाली हैं। इनमें से 'ओउम् भूर्भुवस्वः' आदि मन्त्र तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, जिनको ब्राह्मणों, उप-निषदों तथा आधुनिक हिन्दू ग्रन्थों एवं तन्त्र साहित्य में बड़ा महत्व प्राप्त हुआ है। इसका अर्थ क्रमशः पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक है। इन्हीं मन्त्रों से उस भारतीय तन्त्र साहित्य का जन्म हुआ है, जहाँ पर ओं, आङ्, ह्रीं, ह्रूँ आदि पदों से प्रार्थना की जाती है। ओउम् शब्द का श्रीगणेश भी इसी यजुर्वेद से हुआ है। इसी प्रकार का एकपदी प्रयोग उत्तर कालीन विभिन्न समुदायों द्वारा एक भेद पूर्ण अर्थ में हुआ है। 'ओउम्' शब्द के पर्यायवाची 'प्रणव' शब्द का प्रयोग बहुत काल पश्चात् हुआ। यही ओउम् शब्द उपनिषदों में ब्रह्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यजुर्वेद का निर्माण मुख्यतया धार्मिक दृष्टि से ही हुआ है, परन्तु इसमें भी उच्चकोटि का साहित्य विद्यमान है। यह वेद उत्तर-कालीन ब्राह्मणों तथा उपनिषदों की आधार शिला है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि यज्ञों में अध्वर्यु जिन ऋचाओं का शान्तिपूर्वक पाठ करता हुआ यज्ञ विधि का सम्पादन किया करता था वेही यजुर्वेद में संगृहीत हैं। ये समस्त ऋचायें 'यजूँषि' कहलाती हैं, इनमें न केवल यज्ञादि सम्बन्धी सूचनायें ही हैं, वरन् नियम तथा उपनियमों के लिए वाद-विवाद भी दिये गये हैं। इस प्रकार यज्ञ सम्बन्धी समस्त आवश्यक उपकरणों का संग्रह इस यजुर्वेद में मिलता है। यजुर्वेद का मुख्य उद्देश्य पौरोहित्य शिक्षा है। इसका बहुत कुछ महत्वपूर्ण अंश गद्यात्मक सिद्धान्त एवं प्रार्थनाओं में विद्यमान है, जिनमें अग्नि, प्रकाश, गाय, बर्तन, बलि-पशु, पृथ्वी आदि के लिए यज्ञ सम्बन्धी मन्त्र दिए गए हैं। इस प्रकार धर्म का इतिहास जानने वाले अध्येताओं के लिये यजुर्वेद अत्यन्त महत्वशाली है। इतना अवश्य है कि इसका कुछ भाग अत्यन्त क्लिष्ट एवं अस्पष्ट है; परन्तु बिना यजुर्वेद को समझे हुए हम ब्राह्मण तथा उपनिषदों को कदापि नहीं समझ सकते।

प्रश्न ५—अथर्ववेद के रचना काल, वर्ण्य विषय तथा रचना-क्रम की विशद व्याख्या कीजिए।

उत्तर—भारतीय अनुश्रुतियों से यह ज्ञात होता है कि अथर्ववेद की गणना पहले वेदों में नहीं की जाती थी। वेदत्रयी के नाम से जो ग्रन्थ प्रचलित थे उनमें ऋक्, यजु तथा साम की ही गणना होती थी। "ऋक् यजु साम लक्षणम्" तथा "अन्वीक्षिकी त्रयीवार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती।" आदि कथनों से जिस वेदत्रयी का वर्णन किया गया है उसमें अथर्ववेद का नाम नहीं आता। अथर्ववेद को वेदों के अन्तर्गत न मानने का कारण सम्भवतः यह था कि यह अपने प्रमुख विषय मारण, मोहन तथा अभिशाप आदि के कारण हेय एवं नगण्य समझा जाता था। केवल बौद्ध तथा जैनों ने ही इसे हेय नहीं समझा था, परंतु स्मृतियों ने तो अथर्ववेद के अनुकूल आचरण करने वालों को दण्डनीय बतलाया है। इसी कारण चिरकाल तक हिन्दू लोग इस वेद को घृणा की दृष्टि से

देखते रहे और आज भी इस वेद पर अन्य वेदोंकी अपेक्षा अधिक आस्था नहीं है। बात यह है कि वेदोंकी विशेषता सदैव सदाचरण में रही है। इतिहास, पुराण आदिके भी वे अंश जो कि धार्मिक सदाचरण से परिपूर्ण हैं आज तक अधिक श्रद्धा से देखे एवं पढ़े जाते हैं। परन्तु अथर्ववेद के मारण एवं सम्मोहन आदि के मन्त्रों के प्रति उतनी श्रद्धा नहीं दिखाई देती। यह बात गृह्यसूत्र की एक कथा से भी स्पष्ट हो जाती है जहाँ पर एक नवजात शिशु को त्रयीवेद वाक्य तथा वीर गाथा सुनाने का वर्णन आया है, परन्तु अथर्ववेद की क्रियाओं का नाम नहीं आता। यद्यपि कृष्णयजुर्वेद ब्राह्मण एवं उपनिषदों में "सामापि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरासो मुखम्' कहकर अथर्ववेद को त्रयी के समकक्ष प्रतिपादित किया गया है। अतः इसे त्रयी की अपेक्षा नवीन मानना न्यायोचित नहीं दिखाई देता और इसमें भी सन्देह नहीं कि अथर्ववेद के बहुत से मोहन व मारण-मन्त्र ऋग्वेद के यज्ञीय मन्त्रों के समकालीन हैं। फिर भी इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि अथर्ववेद ऋग्वेद से नवीन नहीं हैं। अथर्ववेद के सबसे अन्तिम मन्त्र ऋग्वेद के सबसे अन्तिम मन्त्रों की अपेक्षा नवीन हैं और उसके कुछ मन्त्रों से तो इनमें शताब्दियों का अन्तर है। सत्य तो यह है कि ऋग्वेद की तरह अथर्ववेद की भी कोई निश्चित तिथि निर्धारित करना संभव नहीं। इसकी रचना में भी शताब्दियों का अन्तर प्रतीत होता है। इस विषय में ओल्डनवर्ग का मत है कि अथर्ववेद के मारण, मोहन-मन्त्र पहले गद्य में थे और वे सब ऋग्वेद के यज्ञ-मन्त्रों के उपरान्त रचे गये। परन्तु यह कथन असत्य सा प्रतीत होता है, क्योंकि दोनों के विषयों में पर्याप्त अन्तर है। राक्षसों की भयानक कथायें तथा सम्मोहन एवं विविध अभिशाप आदि के वर्णन ऋग्वेद के पवित्र यज्ञ सम्बन्धी प्रार्थना मन्त्रों से मेल नहीं खाते। परन्तु इतना सम्भव है कि इसके कुछ मन्त्र ऋग्वेद के समकालीन या उसके पूर्व के भी हों और बाद में संकलित कर दिये गए हों। फिर भी समस्त अथर्ववेद ऋग्वेद की अपेक्षा प्राचीन नहीं है, अपितु नवीन ही हैं और इस वेद को त्रयी में सम्मिलित करने के लिये इसमें कुछ यज्ञीय

मन्त्र, कुछ सूक्त तथा यजुर्वेद के ढङ्ग पर कुछ गद्य मय अध्याय जोड़ कर सम्मिलित कर लिये गये हैं। इसी कारण वेद चतुष्टयी नाम चल पड़ा है।

अथर्ववेद का अर्थ है अथर्वन का वेद अर्थात् जादू के विषयों का ज्ञान। वैसे अथर्वन का अर्थ है अग्नि-पुरोहित (Fire-priest)। फारस के लोगों में भी ऐसी ही अग्नि-पूजा प्रचलित थी। पहले अथर्ववेद को यहां पर 'अथर्वाङ्गिरस' अर्थात् अथर्वन तथा अंगिरस के नाम से पुकारते थे। अंगरिस भी प्राचीन अग्नि-पुरोहित है। ये दोनों शब्द दो प्रकार के जादू-टोनों के द्योतक हैं। अथर्वन शब्द का अभिप्राय पवित्र जादू है जो कि लोगों को सौख्यप्रद होता है, परन्तु अंगिरस शब्द का अभिप्राय अपवित्र जादू है जो कि कष्टकारक होता है। अथर्वन में प्रायः ऐसी-ऐसी क्रियायें प्रचलित थीं जिनसे वे रोगों को ठीक किया करते थे। ऐसे ही अङ्गिरसों में भी ऐसे-ऐसे मन्त्र प्रचलित थे जिनके द्वारा शत्रुओं और अपने प्रतिद्वन्द्वियों को शाप दिया जाता था अथवा उनका विनाश किया जाता था। इस प्रकार 'अथर्वाङ्गिरस' शब्द में दोनों प्रकार के जादुओं का सम्मिश्रण है। पीछे वही अथर्ववेद के नाम से प्रचलित हो गया। इस वेद में कुल ७३१ सूत्र हैं जिनमें लगभग ६००० मन्त्र हैं। इसके २० काण्ड, ३४ प्रपाठक और १११ अनुवाक हैं। इसका लगभग षष्ठांश गद्य में हैं। इसकी ६ शाखाओं का उल्लेख मिलता है, परन्तु आजकल केवल दो शाखायें ही उपलब्ध हैं जो पिटलाद तथा शौनक शाखा के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसकी पिटलाद शाखा के अन्तर्गत प्रश्नोपनिषद् के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ नहीं मिलते। परन्तु शौनक शाखा की संहिता, गोपथ-ब्राह्मण, मुण्डक तथा माँडूक्योपनिषद और वैतान श्रोत-सूत्र तथा कौशिक गृह्यसूत्र मिलते हैं। अथर्ववेद की शौनक शाखा ही अधिक प्रसिद्ध है। इस वेद का लगभग १/७ भाग ऋग्वेद से लिया गया है। इसमें छन्दों का क्रम ऋग्वेद जैसा ही है, परन्तु भाषा पूर्णतः उससे बाद की प्रतीक होती है। इसके अन्तर्गत सर्वसाधारण में प्रचलित भाषा का प्रयोग मिलता है। इतना ही नहीं इसमें ऋग्वेद के उपरान्त की

भौगोलिक स्थिति का भी वर्णन है। इसमें चीते का वर्णन मिलता है तथा चारों वर्णों एवं पृथ्वी पर ब्राह्मणों और पुरोहितों की महत्ता का भी उल्लेख मिलता है। ब्राह्मणों को पृथ्वी का देवता कहा गया है। इस वेद का संग्रह भी ब्राह्मणों ने ही किया ऐसा जान पड़ता है।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से यह ऋग्वेद से सर्वथा भिन्न है। ऋग्वेद में देव-प्रार्थना, संस्कार तथा यज्ञ-मंत्रों आदि का ही बाहुल्य है, किंतु अथर्ववेद में लोक-प्रचलित विश्वासों, जादू-टोनों आदि की हो प्रधानता है। इसमें असंख्य देवताओं, भूत-प्रेतों, पिशाचों, राक्षसों आदि तथा ऐन्द्रजालिकों के विश्वासों का वर्णन मिलता है। धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप जानने के लिए अथर्ववेद का भी अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है। इसके प्रमुख वर्ण्य विषय का प्रभाव प्रायः सभी जातियों पर परिलक्षित होता है। भले ही ऐसे विचार साक्षात् अथर्ववेद की देन न हों, परन्तु प्रारम्भिक जातियों में ऐसे विचार अवश्य प्रचलित थे इसमें कोई संदेह नहीं। यदि ऋग्वेद की दृष्टि धार्मिक तथा पारलौकिक है तो अथर्ववेद की पूर्णतया लौकिक है। इसके भैषज सूक्तों में रोगों एवं देवताओं को सम्बोधन किया गया गया है। इन सूक्तों में कहीं-कहीं राक्षसों के भी वर्णन आये हैं, क्योंकि राक्षस ही रोगों के उत्पादक माने जाते हैं। रोगी का पिशाचग्रस्त हो जाना उस समय साधारण बात थी। लोगों में यह धारणा पहले सर्वाधिक प्रचलित थी। अतः इसका निवारण करने के लिये जो मंत्र निर्मित हुए वे सभी भैषज सूक्तों में संगृहीत हैं। प्राचीन जड़ी-बूटियों का भी इसमें उल्लेख है। पानी को सबसे अधिक रोग नाशक कहा गया है। अग्नि को भी पिशाचों एवं रोगों का विनाशक माना है। इसी संबंध में कुछ सम्मोहन मंत्रों एवं संस्कारों का भी वर्णन मिलता है। इसी आधार पर कौशिकी सूत्रों का निर्माण हुआ है। इनमें बीमारियों के निदान तथा कारणों का उल्लेख है। ज्वर सब रोगोंका राजा कहा गया है। कारण यह है कि इसकी तीव्रता एवं कटुता सर्व विदित थी। 'टकमन' जो ज्वर का पर्यायवाची तथा राजा है एक पिशाच ही प्रतीत होता है। कुछ मन्त्र भी ऐसे हैं जिनके द्वारा रोगों को

दूसरों के ऊपर भेज दिया जाता था; जैसे खाँसी को एक रोगी से हटाकर दूसरे रोगी पर भेजने का वर्णन मिलता है। दूसरे, 'आयुष्य सूक्त' में स्वस्थ एवं दीर्घायु होने की प्रार्थना है। गृहों के महोत्सवों, पर्वों, मुण्डन या उपनयन संस्कारों के समय इन मन्त्रों की प्रथा रही होगी। दीर्घायु के लिये "शरदः शतम्" का कईबार उल्लेख मिलता है। १७ वें अध्याय में एक मन्त्र भी इसी उद्देश्य का दिया गया है। इसके साथ ही कुछ रक्षा-कवचों का भी वर्णन इस सूक्त में आया है। तीसरे, पौष्टिक सूक्तों में मंगल-कामनायें तथा शिष्ट वचन हैं जो गड़रिये, दुकानदार, पुरोहित आदि सभी लोगों के लिये लाभदायक हैं। इन्हीं सूक्तों में गृह-निर्माण तथा कृषि सम्बन्धी मन्त्र भी आये हैं। चौथे, 'मृगार सूक्तों' में रोग-निवारण के लिये देवताओं की प्रार्थना तथा प्रायश्चित आदि के मन्त्र आये हैं। इनके अतिरिक्त कुछ समता अथवा मैत्री भाव जाग्रत करने वाले सूक्तभी हैं; जिनमें से 'दंपति सूक्त' तथा 'कौशिक सूक्तों' में से प्रथम में दम्पति की एकता संस्थापित करने का वर्णन मिलता है। ऐसे ही कौशिक सूक्त में अनेक प्रकार के प्रेम, विवाह तथा वशीकरण सम्बन्धी उपचारों का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त अभिचार सूक्त, प्रत्यभिचार सूक्त, राजकर्म सूक्त, ब्राह्मण पूजा-मंत्र, यज्ञ-मंत्र, अन्त्येष्टि संस्कार व पितृ पूजा तथा कुछ दार्शनिक विचारों का भी उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। इसमें इतने सुन्दर जादू-गीत भरे पड़े हैं जो सुन्दर गीति-काव्य के उदाहरण हैं तथा इन गीतोंमें ऐसी ऐसी रीतियाँ भरी पड़ी हैं जो आज भी उत्तरी अमरीका-निवासियों, अफ्रीका के हब्सियों, मलाया तथा मंगोल के निवासियों, प्राचीन यूनानियों, रोमनों तथा आधुनिक यूरोप के किसानों में प्रचलित हैं। इसमें कुछ वर्षा-गीत भी आये हैं।

इस प्रकार अथर्ववेद का सबसे अधिक महत्व यह है कि इसके द्वारा वैदिक आर्यों के उन प्राचीन विश्वासोंका पता चलता है जो कि पुरोहितों के धर्म में उस समय प्रचलित थे। साथही आत्मा, भूत, प्रेत, दैत्य आदि के बारे में जो उनके विश्वास थे उनका भी ज्ञान प्राप्त होता है और उस जादू का भी ज्ञान होता है जो वैदिक काल में सर्व-साधारण के

अन्दर सबसे अधिक प्रचलित थी। अतः उस काल की धार्मिक जनता के विश्वासों का इतिहास जानने की दृष्टि से अथर्ववेद का अध्ययन भी अत्यन्त महत्व रखता है।

प्रश्न ६—ऋग्वेद संहिता में सङ्कलित आख्यान-साहित्य के स्वरूप एवं प्रयोजन की समीक्षात्मक आलोचना कीजिए।

उत्तर—ऋग्वेद विश्व के समस्त साहित्यों में सबसे प्राचीन एवं उपयोगी है। इसमें सबसे अधिक देव-विषयक प्रार्थनाओं का ही उल्लेख है, जो कि एक विशिष्ट काव्य सामग्री को उपस्थित करता है। ऋग्वेद का यही साहित्य प्रमुख एवं उच्चकोटि का है। परन्तु इसके अतिरिक्त इसमें द्वितीय श्रेणी के साहित्य के भी दर्शन होते हैं, जिसके अन्तर्गत यज्ञ अथवा प्रार्थना मन्त्र आदि के सूक्त एवं दार्शनिक विचारों से सम्बन्धित मन्त्र आते हैं। इसी द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत ऋग्वेद का आख्यान-साहित्य भी आता है। ऋग्वेद के इस प्रकार के साहित्य से ही उत्तर कालीन नाटकों, वीरगाथात्मक काव्यों, इतिहासों, पुराणों तथा अन्य कथा साहित्यों की सृष्टि हुई। ये सभी आख्यान प्रायः कथोपकथन के रूप में मिलने हैं। वैसे समस्त ऋग्वेद छन्दोबद्ध है। अतः हमें ये आख्यान भी छन्दोबद्ध कथोपकथन के रूप में ही उपलब्ध होते हैं।

इस सम्बन्ध में ओल्डनवर्ग का मत है कि सम्पूर्ण भारतीय वीरगाथात्मक काव्य अपने प्राचीनतम रूप में गद्यपद्यात्मक ही था। कथोपकथन पद्य में थे तथा घटनाओं का वर्णन गद्य में रहता था। यही बात सम्भवतः ऋग्वेद में भी रही होगी, परन्तु कालगति के क्रमानुसार कंठाग्र किए हुए उसके छन्दोबद्ध कथोपकथन ही मौखिक रूप में चलते रहे और उसका गद्य भाग सर्वथा विस्मृत होगया। उत्तरकालीन साहित्य में, ब्राह्मण ग्रन्थों तथा वीरगाथात्मक काव्यों में ये कथोपकथन गद्य जोड़कर पूरे कर दिये गये प्रतीत होते हैं। ओल्डनवर्ग ने अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि में आइरिश तथा स्कैंडेनेविया के काव्यों से उदाहरण प्रस्तुत किए

हैं तथा भारतीय ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों, वीरगाथा काव्यों, बौद्ध-साहित्य, कथा-साहित्य, नाटक तथा चम्पू आदि में गद्य-पद्यात्मक प्रवृत्ति को प्रमाणभूत मानकर ऋग्वेद को भी अपने प्राचीनतम रूप अर्थात गद्य-पद्यात्मक रूप में रखने का प्रयत्न किया है। बहुत समय तक उसका यह सिद्धान्त मान्य भी रहा। परन्तु आगे चलकर यह सर्वमान्य न हो सका और न उसके कथनानुसार गद्य का विकास ऋग्वेद से माना गया।

मैक्समूलर तथा लेवी ने ऋग्वेद के छन्दोबद्ध कथोपकथनात्मक आख्यान-साहित्य को नाटकों का बीज माना है। हरटेल आदि विद्वानों ने तो यहाँ तक लिखा है कि ये सम्वाद तत्कालीन धार्मिक रूपकों के प्रदर्शन के लिए ही लिखे गये थे। यदि हम इनमें नाटकीय घटनाओं को और जोड़ दें तो ये पूरे नाटक बन जाते हैं। विंटरनिट्ज़ का कथन है कि ऋग्वेद के ये छन्दोबद्ध कथोपकथन केवल नाटकों के ही नहीं अपितु वीरगाथात्मक काव्यों के भी बीज हैं, क्योंकि इनमें दोनों शैलियों के दर्शन होते हैं और ओल्डनबर्ग के कथनानुसार ये संवाद केवल छन्दोबद्ध ही नहीं थे, अपितु उनके साथ उनकी भूमिका या प्रस्तावना तथा कथानक भी गद्य में अवश्य जुड़ा रहता होगा जो कि कंठाग्र करने की असुविधाके कारण आगे चलकर लुप्त होगया। इस तरह ये आख्यान नाटक तथा वीर-काव्य दोनों के मूल-स्रोत हैं। इसके अतिरिक्त इन आख्यानों का उद्देश्य भारत की प्राचीन संस्कृति, संस्कार, धर्म, इतिहास, सामाजिक दशा तथा नीति आदि का भी प्रचार करना था जैसा कि आगामी आख्यानों से स्पष्ट हो जाता है।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के ९५ मन्त्र में पुरुरवा तथा उर्वशी का संवाद आया है जो एक प्रसिद्ध आख्यान है। इसमें १८ ऋचायें हैं। उर्वशी अप्सरा चार वर्ष तक पुरुरवा के साथ रहकर शाप के कारण तिरोहित हो जाती है। खोजने पर वह अपनी सखियों के साथ पुनः एक सरोवर पर मिलती है, वहाँ पुरुरवा उससे पुनः अपने समीप चलने के लिये प्रार्थना करता है, परन्तु वह अपनी अवधि की ओर संकेत करती हुई चली जाती है। यह संवाद उत्तरकालीन ब्राह्मण ग्रन्थों में भी मिलता

है, जहाँ इसमें कुछ और बढ़ा दिया गया है अर्थात् उर्वशी पुरुरवा की पत्नी बनने से पहले तीन वचन लेती है जिनमें से एक यह भी था कि उर्वशी कभी भी पुरुरवा को नग्न न देखे। उधर गंधर्व लोग उर्वशी को वापिस लेना चाहते थे। उन्होंने उर्वशी की पाटी से नित्य बँधे रहने वाले तथा पुत्र की भांति पाले हुए दो भेड़ के बच्चों को चुरा लिया उनके न दिखाई देने पर उर्वशी ने राजा पुरुरवा से कहा। राजा झट उठ खड़ा हुआ और उधर गंधर्वों ने प्रकाश कर दिया, जिससे उर्वशी को राजा नग्न दिखाई दे गया। फलतः उर्वशी राजा को छोड़कर चली गई। सरोवर पर मिल जाने के उपरान्त राजा ने उर्वशी की बहुत प्रार्थना की, परन्तु वह लौटने को तैयार नहीं हुई। अन्त में राजा ने वहीं पहाड़ से गिरकर मारना चाहा। तब उर्वशी ने राजा से कहा कि तुम ऐसा मत करो, क्योंकि स्त्रियों का प्रेम अनन्त नहीं होता। अन्त में फिर ये दोनों मिले या नहीं इस बात का पता वेद तथा शतपथ ब्राह्मण आदि किसी ग्रन्थ से नहीं चलता। वैसे यह सम्वाद कठक-संहिता, हरिवंश-पुराण, विष्णु-पुराण, कथासरित्सागर, कालिदास कृत विक्रमोर्वशी नाटक आदि में भी मिलता है।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १० वें मन्त्र में यम-मयी का बड़ा ही रोचक सम्वाद मिलता है। परन्तु इसकी कथा भी विच्छिन्न है। यमी अपने भाई यम से अपने साथ विवाह करके का आग्रह करती है, परन्तु यम देव नियमों की ओर संकेत करके उसे स्वीकार नहीं करता। वास्तव में नाटकीय शैली का यह संवाद सबसे सुन्दर एवं रमणीक है। इसमें काव्य कला का आदर्श भी उपस्थित है, परन्तु यह संवाद भी अधूरा ही है। उत्तरकालीन ग्रन्थों ने भी इस पर प्रकाश डालने का प्रयत्न नहीं किया। परन्तु इससे इतना तो अवश्य सिद्ध होता है कि उस समय तक आर्य सभ्यता का नैतिक स्तर इतना ऊँचा हो चुका था कि भाई-बहिन का विवाह अनुचित माना जाने लगा था।

ऋग्वेद के दसवें मंडल के ५० वें सूक्त में सोम तथा सूर्या के विवाह-सम्बन्ध का वर्णन आया है। यह सूक्त ही सूर्यासूक्त के नाम से प्रसिद्ध

है। इसमें ४७ ऋचायें हैं, जो कुछ असम्बद्ध सी हैं। सोम के साथ सूर्या का प्रजापत्य विवाह अश्विनीकुमारों द्वारा कराया जाता है। ऋग्वेद के इस संवाद में जितने भी मन्त्र आये हैं, उनमें वैवाहिक रीति-रिवाजों का वर्णन मिलता है। यही मंत्र आगे चलकर गृह्यसूत्रों में भी विद्यमान हैं और यही मंत्र आज भी विवाह के समय नव-दंपति को सुनाये जाते हैं। इस संवाद के मन्त्रों में कुछ मन्त्र जादू-टौने से भी संबंधित हैं। इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों की राय है कि यह विवाह-संवाद वैष्णवों के उपहास को लक्ष्य करके लिखा गया है। परन्तु विंटरनिट्ज़ इस बात से सहमत नहीं हैं। इस सम्वाद में कुछ सम्मोहन मन्त्र तथा अथर्वगीत भी आ गये हैं।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के ८६ वें सूक्त में वृषाकपि का भी आख्यान आया है। परन्तु यह अधिक स्पष्ट नहीं हैं। पाँचवें मण्डल के कई सूक्तों में श्यावाश्य का भी आख्यान मिलता है। श्यावाश्य राजा रथवीति की कन्या से प्रेम करने लगता है, परन्तु रानी उसे किसी आदर्श कवि के साथ ब्याहना चाहती है। अन्त में श्यावाश्य स्वयं एक विद्वान् कवि बनकर उसे प्राप्त करता है। इस सम्वाद के अन्तर्गत श्यावाश्य की उक्तियों में पर्याप्त काव्य-छटा विद्यमान है। ऐसे ही पौलोमि का आख्यान भी दसवें मण्डल में मिलता है।

इन आख्यानों के अतिरिक्त ऋग्वेद में कुछ ऐसे भी सम्वाद आये हैं जिनको हम फुटकर आख्यान कह सकते हैं। इनका विषय लौकिक और पारलौकिक दोनों ही हैं। इनमें से सोम-प्रकरण तथा द्यूत-प्रकरण अधिक सुन्दर हैं। सोम-प्रकरण तो एक व्यंग्यात्मक कविता है। जिसे हम एक ग्राम्यगीत भी कह सकते हैं। यह ऋग्वेद के ६ वें मण्डल के ११२ सूत्र में मिलता है। दूसरे द्यूत-प्रकरण के अन्दर एक जुआरी का गीत है। उसे पढ़कर स्पष्ट पता चलता है कि जुआ का व्यसन किस प्रकार गृह-शांति को विच्छिन्न कर देता है। यह आख्यान एक स्वगत-कथन के रूप में आया है तथा ऋग्वेद के दसवें मण्डल के ३४ वें सूक्त में सङ्कलित है। यह एक करुण-कहानी है। एक ज्वारी जूये से विमुख होने की प्रतिज्ञा

कर लेता है पर जुये के पासों की झङ्कार उसे पुनः आकृष्ट कर लेती है और वह नित्य प्रभात-काल में सभा भवन के स्थाणु की भाँति पासों पर जा झुकता है। इतना ही नहीं वह जुये में अपनी प्यारी पत्नी को भी हार जाता है। उसकी प्यारी पत्नी दूसरों के द्वारा जब प्यार की जाती है तो यह देखकर वह अत्यंत विलखता है। उसकी सास भी उससे घृणा करती है। साहूकार ऋण के कारण उसे बाँध ले जाता है, परन्तु वह अपने स्वभाव से लाचार है, क्योंकि "स्वभावो दुरतिक्रमः।" इस तरह इन छोटे-छोटे फुटकर आख्यानों से तत्कालीन समाज के नैतिक स्तर का ज्ञान भली-भाँति होजाता है।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में लगभग ४० दानस्तुति के भी मन्त्र मिलते हैं, जिन्हें ओल्डनवर्ग ने लोक-सेवा के गीत न मानकर स्वार्थी ब्राह्मणों द्वारा लिखे गये प्रशंसात्मक गीत बतलाया है क्योंकि इनमें लोक-कल्याण की भावना नहीं है। परन्तु विण्टरनिट्ज़ का कथन है कि ऋग्वेद के १०२८ सूक्तों में से केवल ये ४० सूक्त ही ऐसे हैं जिन्हें हम वर्ग-विशेष के स्वार्थ के लिए लिखे गए नहीं कह सकते । इन स्तुतियों के अतिरिक्त कुछ पहेलियाँ भी मिलती हैं, जिनका अर्थ आज तक स्पष्ट नहीं है। ये पहेलियाँ ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६४ वें मन्त्र तथा दशम मण्डल के ११७ वें मन्त्र में विद्यमान हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि ऋग्वेद लौकिक तथा पारलौकिक विषयों का एक सुन्दर काव्य है। परन्तु इसका अधिकांश भाग आज उपलब्ध नहीं। साथ ही इसके सभी आख्यान अधूरे हैं। अतः यह ज्ञात होता है कि यज्ञ व प्रार्थना के ही मन्त्र सुरक्षित रख लिए गये। शेष समस्त साहित्य नष्ट होता गया। वैसे इसके कुछ छूटे हुए अंश अथर्ववेद में मिल गये, क्योंकि भाषा व शैली की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त साम्य है। फिर भी जो कुछ आख्यान काव्य ऋग्वेद में विद्यमान हैं, वह अत्यन्त उच्चकोटि का है तथा तत्कालीन सामाजिक रीतियों एवं नैतिक धारणाओं का द्योतक है।

अध्याय २

ब्राह्मण-काल

प्रश्न ७—ब्राह्मण ग्रन्थों के मुख्य सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए काल-क्रमानुसार प्रमुख ब्राह्मणों के रचनाक्रम एवं वर्ण्य-विषय की समीक्षा कीजिए।

उत्तर—संस्कृत वाङ्मय में कालक्रमानुसार संहिताओं के उपरान्त दूसरा स्थान ब्राह्मण-ग्रंथों को ही प्राप्त है। साहित्यिक माधुर्य के विचार से तो इन ग्रन्थों में कुछ भी आकर्षण नहीं दिखाई देता। यजुर्वेद की भाँति ये ग्रन्थ भी नीरस हैं। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उत्तर काल के धार्मिक और आध्यात्मिक साहित्य को समझने के लिए ये अद्भुत कुंजी हैं। धर्म-विज्ञान का मनन करने के लिए तो इनके अध्ययन की अत्यन्त आवश्यकता है। ईश्वर-प्रार्थना के इतिहास में जिस प्रकार यजुर्वेद का इतना महत्व है, उसी प्रकार यज्ञों और पौरोहित्य के इतिहास में इन ब्राह्मण ग्रन्थों का एक विशिष्ठ स्थान है।

ब्राह्मण शब्द का अर्थ यहाँ पर किसी यज्ञकी क्रिया-विशेष पर किसी विशिष्ठ आचार्य का मत या टिप्पणी आदि से है। ब्राह्मण ग्रन्थ सामूहिक रूप से यज्ञ-विज्ञान पर विद्वान् पुरोहितों द्वारा की हुई व्याख्याओं की संहितायें हैं। यद्यपि इनमें जगज्जनन और प्राचीन ख्यातियों आदि से सम्बन्ध रखने वाली और यज्ञ कार्य से रिक्त अन्य कथायें भी हैं, तथापि उनका विषय प्रारम्भिक रूप में यज्ञ कार्य ही है, जिसकी विवेचना में अनेक मतमतान्तर तथा ख्यातियाँ उत्पन्न होती हैं। ब्राह्मण-ग्रंथों का विषय यज्ञ की विविध क्रियाओं एवं उनके विधानोंका विवेचन करना है। इन ग्रन्थों में यज्ञ-क्रियाओं के रहस्यमय अर्थ भी जहाँ-तहाँ दिये गये हैं और उनका सम्बन्ध प्रार्थना या ध्यान से स्थापित किया गया है। कई स्थलों पर ये वेदों के विविध मन्त्रों पर दार्शनिक मत भी स्थापित करते हैं। जहाँ तत्कालीन प्राचीन विद्वानोंके मत परस्पर विरोधी

हैं, वहाँ ब्राह्मण एक के विरोध या दूसरे के पक्ष में अपने मन्तव्य को स्थापित करते हैं। ऐसे ही स्थलों का इन ग्रन्थों में प्राधान्य है। कितने ही स्थल उनमें ऐसे भी हैं जिनमें स्थान और सुविधा-विशेष से यज्ञ-क्रियाओं की रीतियों में होने वाले व्यवधानों पर विचार किया गया है। किस-किस यज्ञ से इस जन्म में तथा आगामी जीवन में कौन-कौन सी सुविधायें यजमान प्राप्त करता है इसका भी विवेचन इन ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलता है। इस प्रकार ये ब्राह्मण ग्रन्थ वे ग्रन्थ हैं जिनमें यज्ञ-विधान तथा उसके फल का सम्यक् निरूपण किया गया है। इनमें दक्षिणा का फल भी दिया हुआ है।

इन ब्राह्मण ग्रन्थों के विकास की ओर दृष्टि डालने पर पता चलता है कि किसी समय में ऐसे अनेक ग्रन्थ यहाँ विद्यमान होंगे, क्योंकि जो ब्राह्मण ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं उनमें ही ऐसे कितने ही ब्राह्मण ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है जो आज कहीं भी उपलब्ध नहीं है। फिर भी जितने ब्राह्मण ग्रंथ आज उपलब्ध हैं उनकी संख्या भी कोई कम नहीं है। चारों वैदिक संहिताओं के अपने-अपने ब्राह्मण हैं, जिनकी रचना विविध शाखाओं के साथ-साथ हुई थी। कृष्ण यजुर्वेद की संहिता में ही मन्त्रों के अतिरिक्त यज्ञों की क्रियाओं के अर्थ तथा उनके प्रयोग पर प्रकाशित मतों और व्याख्यानों का समावेश है। यजुर्वेद संहिताओं के इन ब्राह्मण ग्रन्थों में हमें ब्राह्मण-साहित्य के आरम्भ का पता चलता है। कृष्ण-यजुर्वेद के वे स्थल जिनमें यज्ञ-क्रियाओं के विधान तथा उनके सम्बन्ध में मन्तव्य प्रकट किये गये हैं और जिनका सम्बन्ध सीधा वेद-मन्त्रों से है, प्रारम्भिक ब्राह्मण ग्रंथमात्र हैं। इनका प्रणयन ग्रन्थ रूप में उसके उपरान्त विविध शाखाओं के साथ हुआ होगा। यही कारण है कि इन ब्राह्मण ग्रन्थों की संख्या प्रचुर मात्रा में बढ़ती गई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये ब्राह्मण ग्रन्थ वैदिक-साहित्य की अन्तिम कड़ियाँ हैं। कुछ उस काल के ग्रन्थ तो केवल विवेचन के विस्तार के कारण ही ब्राह्मण कहे जाने लगे, वैसे वे विषय की दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थ नहीं हैं। इस वर्ग के अनेक ब्राह्मण सामवेद से सम्बद्ध हैं जो वाग्जाल के अतिरिक्त और कुछ

नहीं है। अथर्ववेद का गोपद-ब्राह्मण भी इसी प्रकार का एक प्रयास है। गोपथ-ब्राह्मण तो सारे वैदिक साहित्य के अन्तिम ग्रन्थों में से एक है। देखा जाय तो अथर्ववेद का पहले कोई भी ब्राह्मण नहीं था, बाद में जब किसी वेद की स्थिति बिना ब्राह्मण के असाधारण समझी गई, तब गोपथ ब्राह्मण जैसे प्रयास प्रस्तुत किये गये।

(१) ऋग्वेद के ब्राह्मण-ग्रन्थ—इन प्रमुख ब्राह्मण ग्रन्थों की संख्या पर विचार करने पर पता चलता है कि ऋग्वेद के दो ब्राह्मण-ग्रन्थ उपलब्ध हैं। ऋग्वेद का पहला ब्राह्मण ग्रन्थ "ऐतरेय ब्राह्मण" है। इसमें ४० अध्याय हैं, जो ८ पंचकों में विभक्त हैं। इस ब्राह्मण ग्रन्थ के निर्माता महिदास ऐत्तरेय माने जाते हैं। वैसे ये इसके संकलनकर्त्ता ही थे इस ब्राह्मण में सोमयज्ञ का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त इसमें अग्निहोत्र और राजसूय यज्ञ का भी वर्णन है। इसके १० अध्याय तो कुछ विद्वानों की राय में पीछे से जोड़े गये हैं। ऋग्वेद का दूसरा ब्राह्मण ग्रन्थ "कौशीतकि" है। यह "सांख्यायन ब्राह्मण" भी कहलाता है। इसका सम्बन्ध ऐत्तरेय ब्राह्मण से अत्यधिक है। इसमें ३० अध्याय हैं। इसके पहले ६ अध्यायों में अन्नयज्ञ का वर्णन है तथा ७ से ३० अध्याय तक का समस्त भाग ऐत्तरेय ब्राह्मण से ही मिलता-जुलता है, जिसमें सोमयज्ञ का प्रमुख रूप से विवेचन किया गया है। परन्तु यह ब्राह्मण ऐत्तरेय के बाद का है और किसी एक ही व्यक्ति का बनाया हुआ जान पड़ता है।

(२) सामवेद के ब्राह्मण :—सामवेद के चार ब्राह्मण मिलते हैं। इनमें पहला "तांड्य महाब्राह्मण" है जिसमें २५ अध्याय हैं और इनके कारण ही यह "पंचविंश ब्राह्मण" भी कहलाता है। यह ब्राह्मण प्राचीनतम ब्राह्मणों में से एक है। इसमें कुछ कथायें तो अत्यन्त प्राचीन दी हुई हैं। इसके एक विशिष्ट भाग का संबन्ध "शुद्धि" से भी है, जिसमें 'व्रात्य स्तोमों' और उन क्रियाओं का उल्लेख है जिनके अनुसार व्रात्यों (भ्रष्टों) को शुद्ध करके आर्यों अथवा ब्राह्मण जाति में मिलाया

जाता था। दूसरा "षड्विंश ब्राह्मण" है, जो इसी ताण्ड्य ब्राह्मण का एक विस्तार मात्र है। 'षड्विंश ब्राह्मण' का ही अन्तिम भाग 'अद्भुत ब्राह्मण' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें इन्द्रजाल तथा अलौकिक घटनाओं का उल्लेख मिलता है। सामवेद का चौथा ब्राह्मण "जैमिनीय ब्राह्मण" है जो ताण्ड्य ब्राह्मण से भी प्राचीन है। यह ब्राह्मण आख्यान तथा धर्म दोनों के इतिहास का अध्ययन करने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है, परन्तु इसकी अधूरी एवं असंबद्ध हस्तलिखित प्रतियाँ ही प्राप्त हुई हैं, जिससे इसका सम्पादन होना सर्वथा असम्भव है।

(३) यजुर्वेद के ब्राह्मण :—कृष्ण यजुर्वेद का "तैत्तिरीय ब्राह्मण" वास्तव में तैत्तिरीय संहिता का ही एक उत्तरकालीन विस्तार है, क्योंकि कृष्ण यजुर्वेद संहिता में ब्राह्मणों का समावेश आरम्भ से ही होगया है। इस प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण इसी तैत्तिरीय संहिता का अन्तिम भाग है। इस ब्राह्मण में "पुरुषमेध" का वर्णन मिलता है और संहिता में इस पुरुषमेध का वर्णन नहीं है। अतः यह सिद्ध होता है कि यह ब्राह्मण पर्याप्त काल पश्चात् बना होगा। शुक्ल यजुर्वेद का प्रमुख एवं प्रसिद्ध "शतपथ ब्राह्मण" है, जिसमें १०० अध्याय हैं। यह ब्राह्मण सभी ब्राह्मण ग्रन्थों में अत्यन्त विख्यात एवं अपने प्रस्तुत विषय के अनुसार प्रमुख है। वाजसनेयि संहिता की भाँति इस शतपथ ब्राह्मण की भी काण्व तथा माध्यन्दिन नामक दो शाखायें मिलती हैं। माध्यन्दिन शाखा के अन्तर्गत इस ब्राह्मण के १०० अध्याय १४ काण्डों में विभक्त हैं। इस ब्राह्मण के पिछले ९ काण्ड वाजसनेयि संहिता के पहले १८ भागों के क्रमशः भाष्य हैं। यह शेष पाँच काण्डों में निस्संदेह प्राचीन है। फिर उनमें भी सम्भवतः एक से पाँच काण्ड परस्पर सन्निकट हैं। इन काण्डों में याज्ञवल्क्य का उल्लेख बहुधा ऐसे आचार्य के रूप में हुआ है जिसका मत संदिग्ध एवं विवादास्पद विषयों पर सर्वथा मान्य है। १४ काण्डों के उपरान्त ये ही अन्त में शतपथ ब्राह्मण के रचयिता कहे गये हैं। वैसे अग्नि-चयन का वर्णन करने वाले ६ से

९ तक के काण्डों में याज्ञवल्क्य का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता वहाँ पर इनके स्थान पर शांडिल्य का नाम एक दूसरे आचार्य के प्रमाण के रूप में आया है। ये ही शांडिल्य दसवें काण्ड में अग्नि रहस्य के प्रवक्ता कहे गये हैं। ११ से १४ वें काण्ड तक उपनयन, स्वाध्याय तथा अन्त्येष्टि क्रिया आदि विषयों का विवेचन किया गया है जो साधारणतया ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय नहीं माने जाते। १३ वें काण्ड में अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध आदि का विवेचन है। १४ वें काण्ड में प्रवर्ग्य अर्थात् सन्यास लेने की क्रिया का उल्लेख है। इसी ब्राह्मण के अन्त में वृहदारण्यक नामक प्राचीन और प्रमुख उपनिषद् भी दिया हुआ है।

(४) अथर्ववेद का ब्राह्मण :—अथर्ववेद का केवल एक "गोपथ-ब्राह्मण" मिलता है, जिसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। यह केवल अथर्ववेद का अस्तित्व वेदत्रयी के समकक्ष स्थापित करने के निमित्त ही लिखा गया था। कारण यह था कि सभी वेदों के ब्राह्मण ग्रन्थ मौजूद थे। अतः अथर्ववेद की सत्ता सर्वमान्य घोषित करने लिए इस वेद के अनुयायियों ने भी गोपथ-ब्राह्मण नामक यह ब्राह्मण-ग्रंथ रचा। यह ब्राह्मण अत्यन्त नवीन तथा अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों की अपेक्षा कम महत्वशाली है।

उपर्युक्त वेदों के भिन्न-भिन्न ब्राह्मणों में एक विशिष्ट अंतर है। ऋग्वेद के ब्राह्मण यज्ञ क्रियाओं के सम्बन्ध में उन विषयों पर अधिक जोर देते हैं जो 'होता" से सम्बन्ध रखते हैं। ये होता ऋग्वेद के मंत्रों और सूक्तों का यज्ञ के अवसर पर गान करते हैं, सामवेद के ब्राह्मण मुख्यतः 'उद्गाता' के लिये रचे गये हैं। ऐसे ही यजुर्वेद के ब्राह्मणों का उद्देश्य 'अध्वर्यु' के कामों का विवेचन करना है। किन्तु अपने विषय के तात्विक निचोड़ में ये ब्राह्मण ग्रंथ प्रायः अभिन्न हैं। इन ब्राह्मणों के प्रणयन में कई शताब्दियाँ लगी हैं। सामवेद के एक "वंश-ब्राह्मण" में दिये हुए वंश-वृत्त में पचास गुरुओं के नामों का उल्लेख मिलता है। इस तरह इनका काल-विस्तार एक सहस्र वर्ष से किसी प्रकार कम नहीं

ठहरता। कुछ विद्वानों ने इनकी ऐतिहासिकता में संदेह प्रकट किया है जो कि सर्वथा निराधार प्रतीत होता है, क्योंकि वैदिक साहित्य में इनके नाम कितने ही प्रसंगों में मिलते हैं। दूसरे, इन गुरुओं का संबंध पुराणों से भी है। तीसरे, क्रम का भी बराबर ध्यान रखा गया है। साथ ही वेदों की भाँति ही ब्राह्मणों, उपनिषदों एवं आरण्यकों का पाठ भी अत्यन्त धार्मिक श्रद्धा के साथ सुरक्षित रखा गया है। अतः संकरता नहीं हो सकती। यज्ञ क्रियाओं के विकास में समय अवश्य लगा होगा और यह भी प्रतीत होता है कि ये ब्राह्मण ग्रन्थ बौद्धों के साहित्य से भी प्राचीन हैं, क्योंकि इन ग्रन्थों में ब्राह्मण धर्म का जो उत्कर्ष दिखाई देता है, उसी का विरोध बौद्ध धर्म द्वारा हुआ था। इस प्रकार ब्राह्मण साहित्य के विकास का काल १००० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक लगभग ८ शताब्दियों का यदि माना जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं।

वैदिक संहिताओं की ही भांति इन ब्राह्मण ग्रन्थों का भी समय स्थिर करना अत्यन्त दुष्कर है। इस सम्बन्ध में एक बात निस्संदेह निश्चित होजाती है, कि जिस समय इन ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रणयन हुआ था उस समय तक समस्त संहिता-साहित्य का संकलन हो चुका था। इतना ही नहीं वह अत्यंत प्राचीन भी माना जाने लगा था। केवल यजुर्वेद ही नहीं प्रत्युत अथर्ववेद के रहस्यपूर्ण भाग भी यजुर्वेद के पाठ हो गये थे तथा सामवेद के गेय मन्त्र भी ब्राह्मणों से बहुत पहले ही रचे जा चुके थे। विंटरनिट्ज़ का कथन है कि यह भी सम्भव है कि अथर्ववेद की संहिताओं तथा अन्य यज्ञानुष्ठान वाली संहिताओं का संकलन तथा इस ब्राह्मण साहित्य का निर्माण प्रायः समकालीन रहा होगा। अनुश्रुति है कि व्यास ने अपने शिष्य की सहायता से ऋग्वेद-संहिता का सम्पादन किया था। ये व्यास महाभारत-काल में हुए, तब कदाचित् ब्राह्मण-काल की क्रियात्मक प्रणाली का जन्म तो अवश्य हो चुका होगा; क्योंकि ब्राह्मणों की तालिका का प्रथम आचार्य तथा जनमेजय का पुरोहित "तुरकावषेय" महाभारत काल के अन्त में हुआ था। फिर भी ब्राह्मण-ग्रन्थों के निर्माण और उनके क्रियात्मक काल में पर्याप्त अन्तर रहा

होगा। इस बात को भूलना नहीं चाहिये कि इन तालिकाओं वाले ब्राह्मण ग्रन्थों का निर्माण तभी हुआ होगा जब उन तालिकाओं में वर्णित सबसे अन्त के नाम वाला आचार्य भौतिक दृष्टि से रह चुका हो। वैसे इसमें संदेह नहीं कि कुछ ब्राह्मणों के कतिपय अंश अत्यन्त प्राचीन हों, सम्भवतः उतने ही प्राचीन हों जितनी कि संहितायें हैं। क्योंकि जिस समय से ऋचाओं का निर्माण हुआ होगा और जब से उनके क्रियात्मक रूप में यज्ञों का होना प्रारम्भ हुआ होगा, उसी समय से उनके अनुष्ठान में विभिन्न मतों का समावेश होना भी प्रारम्भ होगया होगा। यह मत-वैचित्र्य ही ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रमुख विषय है। जहाँ तक ब्राह्मणों में वेद और यज्ञ संबंधी व्याख्या की बात है, वहाँ तक तो उन्हें अत्यन्त प्राचीन मानना ही पड़ेगा। संभवतः 'तुरुकावषेय' आदि भी प्राचीन हैं। साथ ही प्रस्तुत ब्राह्मणों में इन ब्राह्मण ग्रन्थों का भी उल्लेख है जो उनके निर्माण काल में ही लुप्त होगये थे।

ब्राह्मण काल में आते-आते ऋग्वेद का सप्त-सिंधु प्रदेश भी कुछ विस्तृत होगया था। उस काल की क्रियाओं का क्षेत्र अब कुरु, पांचाल आदि जनपद होगये थे। अब यज्ञों का धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र बन गया था। इस क्षेत्र का विस्तार पूर्व में गंगा तथा यमुना और पश्चिम में सरस्वती और ईषत्वती नदियों के बीच में होगया था। पांचाल प्रदेश पड़ौस में ही गंगा-यमुना के बीच में था। दिल्ली से मथुरा तक का प्रदेश बहुत समय तक ब्रह्मावर्त कहलाता रहा। इसी प्रदेश में उस संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ जो ब्राह्मण-संस्कृति के नाम से पुकारी जाती है और जिसकी आर्य व हिन्दू-संस्कृति पर्यायवाची हैं। इस काल में आकर ऋग्वेद-काल की धार्मिक स्थित में अत्यधिक अन्तर उपस्थित होगया था। देवता तो ऋग्वेदकालीन ही थे, परन्तु वे अब अपने पैरों पर खड़े न होकर यज्ञों से ही अपनी शक्ति प्राप्त करने लगे थे। कुछ ऐसे देवता जो ऋग्वेद-काल में गौण थे, अब प्रमुख बन गये थे। विष्णु, रुद्र तथा शिव ऐसे ही देवता थे, जो अब अधिक पूजे जाने लगे थे। इतना ही नहीं इस काल में प्रजापति को विशेष महत्व दिया जाने लगा था। यह प्रजापति

देव और असुर दोनों का पिता समझा जाता था। साथ ही देवासुर-संग्राम के भी कितने ही निर्देश इन ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलते हैं। ऋग्वेद में असुर को देवता ही माना गया था, ब्राह्मण ग्रन्थों में आकर यह असुर अब दैत्य होगया था। अब यज्ञ किसी अभीष्ट की सिद्धि के लिए ही नहीं किये जाते थे, अपितु वे स्वयं एक आवश्यक कार्य बन गये थे, जिनका करना प्रत्येक के लिए अनिवार्य होगया था। पहले मुख्यतः यज्ञ देवताओं की प्रसन्नता के लिए ही किये जाते थे और यज्ञ में देवता ही प्रमुख माना जाता था, परन्तु ब्राह्मण-काल में आकर यज्ञ और देवता दोनों घुल मिल गये और यज्ञ की ही प्रधानता होगई। इतना हो नहीं यज्ञ ही प्रजापति कहलाने लगा था।

सारांश यह है कि इन ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ एवं ब्राह्मण धर्म का ही प्राधान्य वर्णित है। इनमें ब्राह्मणों के कर्त्तव्यों की ओर भी संकेत किया है, जैसे ब्राह्मणों का कार्य यज्ञ की क्रियायें सम्पन्न कराना, चरित्रवान होना, प्रसिद्धि प्राप्त करना तथा जनता को यज्ञ द्वारा सफलता दिलाना है। यजमान के कर्त्तव्यों का भी निर्देश मिलता है, जैसे यजमान को ब्राह्मणों का आदर करना चाहिए, उन्हें दक्षिणा देना चाहिए, ब्राह्मणों को कभी मारना नहीं चाहिए तथा उन्हें कभी भी सताना न चाहिए। राजा लोग भी ब्राह्मणों की सम्पत्ति को छू नहीं सकते थे तथा यज्ञ की दक्षिणा में अपना सारा राज्य तक ब्राह्मणों को दे देते थे। राजा यदि किसी ब्राह्मण को सताता था तो उसे दैवी आपत्ति का सामना करना पड़ता था। इन ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐसे भी वर्णन आये हैं कि जो वस्तु दूसरों के लिए निषिद्ध थी, वह भी ब्राह्मण के लिए ग्राह्य थी। जैसे यज्ञ का बचा हुआ अन्न अन्य लोगों के लिए हानिकारक था, परंतु ब्राह्मणों के लिए वह भी लाभप्रद था। ब्राह्मणों को इन ग्रन्थों में भूसुर ही नहीं अपितु देवत्व से भी ऊँचा स्थान प्राप्त है। इतना ही नहीं कितने ही ब्राह्मण ऋषियों ने अपने तप द्वारा देवताओं का स्थान भी प्राप्त कर लिया था और उनके यज्ञानुष्ठान से देवता भी अपने सिंहासनों पर काँपा करते थे। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में ब्राह्मणों के महत्व का ही

वर्णन विशेष रूप से मिलता है। वैसे इन ग्रन्थों के वर्ण्य विषय को दो भागों में बाँटा जा सकता है--(१) विधि (२) अर्थवाद। विधि से तात्पर्य नियम या सिद्धान्त से है और अर्थवाद से उनके अर्थ की व्याख्या का संबंध है। इस प्रकार पहले तो इनमें प्रत्येक यज्ञानुष्ठान की विधि का उल्लेख मिलता है, तथा उसके उपरान्त उससे प्राप्त होने वाले फल की व्याख्या एवं उस अनुष्ठान कार्य का अर्थ समझाया गया है, जैसे शतपथ ब्राह्मण में पहले यज्ञ के लिए की हुई प्रतिज्ञा का वर्णन है तदुपरान्त उसकी व्याख्या की गई है और विभिन्न ऋषियों के मत का भी उल्लेख किया गया है कि क्यों जल का आचमन करके ही यज्ञ की प्रतिज्ञा करनी चाहिए आदि। साथ ही इन ब्राह्मणों में शब्दों का व्याख्यात्मक इतिहास, यज्ञ के सांकेतिक अर्थ तथा शब्दों की व्युत्पत्तियाँ भी मिलती हैं। इतना ही नहीं धार्मिक कृत्यों के वर्णन के साथ-साथ कितने ही आख्यानों का भी उल्लेख मिलता है, जिनमें तत्कालीन सामाजिक जीवन के नैतिक स्तर एवं चारित्रिक विशेषताओं का पूरा पता चल जाता है। पुरुरवा तथा उर्वशी की कथा, प्रलय की कथा, शुनःशेप की कथा, वाक् का आख्यान तथा सृष्टि से निर्माण की अनेक कथायें इन ब्राह्मण ग्रन्थों में भरी पड़ी हैं, जो इतिहास तथा पुराणों की मूल-स्रोत हैं। संक्षेप में इन ब्राह्मण-ग्रन्थों में निम्नलिखित विषयों का समावेश मिलता है:—

(१) प्रार्थनायें तथा जादू मन्त्र।

(२) वेद संबंधी पवित्र ज्ञान का विवेचन।

(३) सृष्टि की उत्पत्ति सम्बन्धी कथायें तथा उसका विशद वर्णन।

(४) सृष्टि उत्पत्ति संबंधी सिद्धान्त एवं उनकी व्याख्यायें।

(५) अन्य उपाख्यान जिनमें यज्ञों का महत्व वर्णित है।

(६) शब्द व्युत्पत्ति एवं शब्दों का व्याख्यात्मक इतिहास।

(७) जन-कथायें, जिनमें तत्कालीन सामाजिक जीवन की झाँकी विद्यमान है।

प्रश्न ८—आरण्यकों तथा उपनिषदों का विवेचन करते हुए उनके वर्ण्य विषय की विभिन्नता का स्पष्ट उल्लेख कीजिए।

उत्तर—साधारणतयः यह धारणा फैली हुई हैं कि ब्राह्मण-काल में केवल यज्ञ सन्बन्धी शुष्क ब्राह्मण-साहित्य की ही रचना हुई। परन्तु यह धारणा भ्रमपूर्ण हैं। क्योंकि आर्यों का उर्वर मस्तिष्क केवल यज्ञ-संबंधी बाल की खाल निकालने में ही नहीं लगा रह सकता था। वैसे तो सायण के कथनानुसार स्वयं ग्रन्थों में कल्प के अतिरिक्त इतिहास, पुराण आदि साहित्य का उदय होजाता है। अतः इस तरह देखें तो वीरकाव्य का प्रारम्भ ब्राह्मण-काल में ही होगया था। परन्तु यह बात भी कुछ असंगत सी दिखाई देती है कि ब्राह्मणकाल में आर्यजनता सरस गीतों का गान न करती हो तथा सुन्दर कथाओं को सुनना पसंद न करती हो। उन दिनों में जो कुछ गाया तथा सुनाया जाता था, उसका कुछ-कुछ आभास तो हमें शुनःशेप के आख्यान में मिल जाता है। परन्तु उसका सबसे बड़ा अंश पुराणों और काव्यबद्ध इतिहासों में सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों के भाषा-साहित्य से ही स्पष्ट है कि उससे पूर्व ही व्याकरण, शिक्षा, ज्योतिष आदि का स्वरूप खड़ा हो चुका था, जिसका विशद वर्णन आगे चलकर वेदांतों में मिलता है। परन्तु दार्शनिक विचार भी ब्राह्मण-ग्रन्थों के उपरान्त नहीं उठे। इनका भी जन्म वास्तव में पहले ही हो चुका था। ऋग्वेद के मन्त्रों में ही कितने ही प्रसंग ऐसे हैं जहाँ देवताओं के विषय में प्रश्नात्मक धारणायें उठ खड़ी हुई हैं और जो निश्चय-पूर्वक दार्शनिकता की द्योतक हैं। ऋग्वेद के ये संदेहशील जिज्ञासु ही भारतवर्ष के प्रथम दार्शनिक थे। अथर्ववेदसे ज्ञात होता है कि दार्शनिकों ने अपने विचारों का प्रचार किया था और अपने सम्प्रदाय स्थापित किए थे। यद्यपि यजुर्वेद को संहिताओं में दार्शनिकों की हंसी उड़ाई गई है। परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि इस उपहास में भी एक दबे हुए भय का संचार होरहा है।

इतना अवश्य है कि ये दार्शनिक इन यज्ञ-पुरोहितों में नहीं मिलते,

और यह संभव भी नहीं है कि यज्ञ कराने वाले होता या अध्वर्यु के हृदय में इन्द्र के देवत्व के वारे में कुछ शङ्का या सन्देह हो। वे लोग इन्द्र अथवा अन्य देवताओं के प्रति किये गये यज्ञों को कदापि निरर्थक नहीं घोषित कर सकते थे, क्योंकि ये ही यज्ञ तो उनकी जीविका के साधन थे। अधिक संभव तो यह है कि ये दार्शनिक विचार उन धनिकों के मस्तिष्क की उपज थे, जो प्रमादी थे और यज्ञों से कुछ उदासीन रहते थे। साथ ही यज्ञों का आडम्बरपूर्ण कार्य उन्हें अपव्यय सा दिखाई देता था तथा पुरोहितों की बड़ी-बड़ी दक्षिणायें जिन्हें अखरती थीं। उपनिषदों तथा ब्राह्मणों के कुछ उदाहरणों से सिद्ध होता है कि राजा लोगों का ही प्राचीनकाल के बुद्धि सम्पन्न दार्शनिक साहित्य से अधिक संबंध था। कौषीतकि ब्राह्मण में राजा प्रतर्दन की कथा मिलती है। जिसमें राजा अपने पुरोहितों से यज्ञ-विज्ञान पर विचार विनिमय करता है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में विदेहराज जनक का वर्णन आया है, जो अनेक बार अपने ज्ञान से पुरोहितों को चकित करके निरुत्तर कर देता है। जब राजा जनक अग्निहोत्र के सम्बन्ध में श्वेतकेतु, सोमशुष्क और याज्ञवल्क्य से प्रश्न करता है तो वे स्नातक कुछ उत्तर नहीं दे पाते। राजा के चले जाने पर वे स्नातक परस्पर वार्तालाप करते हैं और कहते हैं कि आश्चर्य है कि राजा जनक ने हमें निरुत्तर कर दिया। अब हमें उन्हें ब्रह्मोदय शास्त्रार्थ के लिए चुनौती देनी चाहिए। याज्ञवल्क्य उनके इस विचार से सहमत नहीं होते और स्वयं राजा जनक के पास जाकर ज्ञान सीखते हैं। यजमान अयस्थूण भी इसी प्रकार अपने पुरोहित 'शौल्वायन' को ज्ञान सिखाता है। उपनिषदों में तो राजाओं के अतिरिक्त स्त्रियाँ भी दार्शनिक व्याख्यानों में भाग लेती हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में वंचवनु की पुत्री गार्गी याज्ञवल्क्य से वाद-विवाद करती है कि जिस प्रकार धनुर्धारी दो अचूक वाणों को धनुष पर रखता है, मैं भी तुम्हारे विरोध में खड़ी होकर दो प्रश्न करती हूँ, उनका उत्तर दो। इसी उपनिषद में याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रैयी को आध्यात्म-विद्या का रहस्य समझाते हैं।

रैक्व तथा अयुग्वन की कथाओं से भी यह स्पष्ट है कि पुरोहितों को दार्शनिक-विचार दूसरों से सीखने पड़े थे। उपनिषदों में कितनी ही बार ऐसे स्थल आये हैं जहाँ राजन्य ब्राह्मणों को दीक्षा देते तथा ज्ञान सिखाते हैं। सत्यकाम जाबाला की कहानी इसी बात का प्रमाण है। इस कथा से यह भी पता चलता है कि उस समय ब्राह्मणों की उपेक्षा होने लगी थी, परन्तु स्मृति-काल में वे ही ब्राह्मण पुनः वेद पढ़ाने वाले माने गये। उपनिषदों के अध्ययन से पता चलता है कि राजन्यवर्ग दार्शनिक ज्ञान रखते थे और ब्राह्मण लोग उनके समीप ज्ञान सीखने जाया करते थे। जैसे श्वेतकेत के पिता ब्राह्मण गौतम का राजा प्रवाहण के समीप ज्ञान सीखने केलिए जाना वर्णित है। ऐसे ही उद्दालक अरुणि पहले पाँच ब्राह्मणों को उपनिषद् का ज्ञान देते हैं, परन्तु फिर डर कर कि कहीं मैं इनको संतुष्ट न कर सकूँ, अतः उन्हें राजा अश्वपति (कैकेय) के समीप भेज देते हैं। इससे पता चलता है कि जब ब्राह्मण लोग अपने शुष्क यज्ञीय विधानों में उलझे हुए थे, उस समय राजा लोग तथा अन्य वर्ग के व्यक्ति उपनिषदों की परा विद्या की खोज कर रहे थे। इनमें से कुछ गृहस्थ तथा कुछ सन्यासी थे। इसकाल में संन्यास की ओर लोग झुकने लगे थे। ये संन्यासी लोग प्रायः ब्राह्मणों से भिन्न वर्ग के थे, उन्हीं वर्गों में से दो प्रबल सम्प्रदाय उठ खड़े हुए जो बौद्ध तथा जैन के नाम से विख्यात हुए तथा जिन्होंने ब्राह्मणों के यज्ञ सम्बन्धी विश्वास की नींव हिलादी थी।

फिर भी यह कहना असंगत ही होगा कि ब्राह्मण लोग इस परा-विद्या से बिल्कुल दूर थे। इन ब्राह्मण ग्रन्थों में ही उनके परिशिष्ट के रूप में हमें "आरण्यक" मिलते हैं, जिनमें ब्राह्मणों की दार्शनिक विचार धारा विद्यमान है। इन आरण्यकों के पाठ बड़े रहस्यमय हैं और जिन्हें किसी प्रकार साधारण नहीं कहा जा सकता। विशिष्ट शिष्य ही इस रहस्यमय साहित्य में दीक्षित हो सकते थे और इसीलिए उनका पूरा दान अरण्य अर्थात् निर्जन वन में ही संभव था। इन आरण्यकों में यज्ञों की क्रिया अथवा उनके अनुष्ठानों की विधि ही नहीं दी गई है, प्रत्युत

यज्ञों के रहस्यवाद और पुरोहित के कार्यों का विवेचन करना भी है। ब्राह्मण धर्म के आदर्श चारों आश्रमों के स्थापित हो जाने पर इन आरण्यकों का पढ़ना वनवासी ऋषियों को सहज सुलभ हो गया था। प्राचीनतम उपनिषद् इन आरण्यकों के साथ इतनी घनिष्टता के साथ जुड़ गये हैं कि उनका पृथक् करना सर्वथा कठिन है। ये उपनिषद् ही वेदान्त हैं, क्योंकि वे अपेक्षाकृत बाद में बने और इसी कारण ये वैदिक साहित्य के अन्तिम रूप को प्रस्तुत करते हैं। प्राचीनतम उपनिषद् इन आरण्यकों के ही भाग हैं। वहाँ पर ये परिशिष्ट के रूप में आये हैं। वैदिक विद्यार्थी को अंत में ही उन दार्शनिक ग्रन्थियों की गवेषणा करनी पड़ती थी जो उपनिषदों के रूप में आज विद्यमान हैं। इन उपनिषदों में ही बाद के दार्शनिकों ने वेदों का रहस्य पाया था।

वेदान्त के रूप में आरण्यक तथा उपनिषद् विभिन्न शाखाओं के मिलते हैं। अधिकतर तो वे ब्राह्मणों के ही भाग हैं। ऐतरेय आरण्यक, जिसमें कि ऐतरेय उपनिषद् भी सम्मिलित है, ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण से जुड़ा हुआ है। इसी प्रकार कौषीतकि उपनिषद्, महानारायण उपनिषद् तथा कौषीतकि आरण्यक, ऋग्वेद के कौषीतकि ब्राह्मण के ही भाग हैं, जिसका अन्तिम भाग तैत्रिरीय उपनिषद् है। शुक्लयजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण के १४ वें काँड के प्रथम तीन भाग आरण्यक कहलाते हैं। तथा इसी काण्ड का अन्तिम भाग सबसे महान तथा प्रमुख "वृहदारण्यक" के नाम से प्रसिद्ध है। छांदोग्य उपनिषद् का प्रारंभिक भाग एक आरण्यक है तथा यह उपनिषद् स्वयं सामवेद के ताण्ड्य ब्राह्मण का एक अंश है। ऐसे ही जैमिनीय उपनिषद् भी सामवेद के जैमिनीय ब्राह्मण का एक भाग है तथा केन उपनिषद् भी इसी का एक अंश है जो तवल्कार उपनिषद् भी कहलाता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में बाद में जोड़े जाने वाले महानारायण उपनिषद् को छोड़कर शेष सभी उपनिषद् प्राचीनतम हैं। वैसे १४ उपनिषद् प्राचीन माने जाते हैं। जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—ऐतरेय, कौषीतकि, तैत्तिरीय, वृहदारण्यक, छान्दोग्य, केन या तवल्कार, कठ,

श्वेताश्वतर, ईश, मुंडक, प्रश्न, मैत्रायिण तथा मांडूक्य। इन १४ प्राचीन उपनिषदों में प्रथम ६ उपनिषद् अत्यन्त प्राचीन हैं तथा शेष ८ उपनिषद् इनके बाद के हैं। इन १४ उपनिषदों के अतिरिक्त लगभग २०० उपनिषद् और मिलते हैं जिनमें से अधिकांश दार्शनिक न होकर धार्मिक हैं तथा बहुत से पुराण तथा तंत्रों से संबंधित हैं। इन बाद के उपनिषदों में से १०८ उपनिषद् ऐसे हैं जिनके द्वारा मोक्ष-प्राप्ति बतलाई गई है। इन १०८ उपनिषदों की संख्या इस प्रकार है—ऋग्वेद के १०, शुक्लयजुर्वेद के १९, कृष्णयजुर्वेद के ३२, सामवेद के १६ तथा अथर्ववेद के ३१ उपनिषद् हैं। इन सभी संख्याओं का उल्लेख बाद में लिखे हुए 'मुक्तिकोपनिषद्' में मिलता है। भाषा व शैली में ये ग्रंथ ब्राह्मण ग्रंथों के ही समान हैं, और अधिकतर उनके ही ये भाग हैं। अतः उनकी ही गद्यात्मक शैली इनमें मिलती है। उक्त प्राचीन उपनिषदों में केनोपनिषद् का आधा भाग पद्यात्मक है और सब से बाद का है। इन प्रमुख उपनिषदों के स्वतंत्र भाग भी ब्राह्मणों और आरण्यकों से बहुत बाद के नहीं हैं। इस प्रकार ऐत्तरेय, बृहदारण्यक आदि १४ उपनिषद् ब्राह्मणों के ही समकालीन हैं और अत्यधिक प्राचीन हैं। वेदांत के सिद्धांत इन उपनिषदों में स्पष्ट एवं मौलिक रूप में बिखरे पड़े हैं। कुछ गद्यात्मक तथा पद्यात्मक उपनिषद् बाद में भी लिखे गये, जिनका कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। परन्तु उनमें से कितने ही बौद्ध धर्म से पहले बन चुके थे। यद्यपि ये उपनिषद् अरण्यकों के भाग नहीं हैं, फिर भी वे किसी न किसी वेद की शाखा से सम्बन्धित हैं, जैसे कठ या काठक उपनिषद् का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद की उस शाखा से है जिससे सम्भवतः महानारायण तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् का भी सम्बन्ध हो सकता है जो तैत्तिरीय आरण्यक का परिशिष्ट सा है। संक्षिप्त एवं प्रमुख ईशोपनिषद्, जो वाजसनेयि संहिता का अन्तिम भाग है, शुल्कयजुर्वेद से संबंध रखता है। मुण्डक तथा प्रश्नोपनिषद् अथर्ववेद के हैं। इनमें सांख्य तथा योग के सिद्धान्तों का निरूपण मिलता है। कृष्णयजुर्वेद का मैत्रायिणी उपनिषद् बुद्धोत्तरकाल का है। यह गद्य में ही है तथा भाषा

शैली में यह संस्कृत के काव्य-साहित्य के अधिक निकट है। अथर्ववेद का मांडूक्य उपनिषद् भी इसी काल का है। स्वामी शंकराचर्य ने अपने ब्रह्म-सूत्र में जिन १२ प्रमुख उपनिषदों का वर्णन किया है उनमें मैत्रायण तथा मांडूक्य का नाम नहीं है। परन्तु ये दोनों भी प्राचीन माने जाते हैं। इस प्रकार उक्त १४ उपनिषद् ही प्राचीन भारत के दर्शन-साहित्य के आधार हैं। बाद के २०० उपनिषदों का संबंध भी वेदों से बतलाया जाता है; परन्तु वे अधिकांश दार्शनिक न होकर केवल धार्मिक दृष्टिकोण से लिखे गये हैं।

इस प्रकार संक्षेप में हम आरण्यकों एवं उपनिषदों की पृथकता का विचार इस प्रकार कर सकते हैं कि आरण्यकों में तो ब्राह्मण ग्रंथों के विषय का ही प्रतिपादन मिलता है जब कि उपनिषदों में दर्शन की स्वतंत्र विचार धारा विद्यमान है। आरण्यकों में यज्ञों की क्रिया अथवा उनके अनुष्ठानों की विधि का बड़े रहस्यपूर्ण ढङ्ग से सम्यक विवेचन किया गया है, परन्तु उपनिषदों में प्रतीकों, रूपकों तथा पहेलियों के द्वारा ब्रह्म, आत्मा, जीव, तथा आवागमन संबंधी दार्शनिक विचार प्रकट किये गये हैं। इस तरह आरण्यक तो यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणों की स्वार्थ बुद्धि के परिचायक हैं, भले ही उनमें कुछ थोड़ी बहुत दार्शनिकता भी आ गई है, परंतु उपनिषदों में किसी एक समय के तथा एक ही ऋषि या मुनि के मस्तिष्क से निकले हुए सिद्धांत नहीं है, अपितु वे एक लम्बी अवधि में कितने ही विचारकों की उर्वरा बुद्धि से उत्पन्न दार्शनिक विचार हैं जो रहस्यात्मक होने के कारण सर्वजन सुलभ नहीं हैं, परन्तु गुरु के समीप अध्ययन करने पर स्वर्गीय आनंद के उत्पादक हैं।

प्रश्न ६—मुख्य-मुख्य उपनिषदों के ऐतिहासिक क्रम की विवेचना करते हुए उनके प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर—उपनिषद् शब्द 'उप' तथा 'नि' उपसर्ग के साथ सद् धातु से क्विप् प्रत्यय जोड़ने पर बना है। सद् धातु के तीन अर्थ होते हैं,

(१) विशरण अर्थात् नाश होना, (२) गति अर्थात् प्राप्त होना तथा (३) अवसादन अर्थात् शिथिल करना। वैसे उप + नि + सद् का अर्थ है किसी के पास बैठना अर्थात् गुरु के पास शिष्य का शिक्षा ग्रहण करने के लिए बैठना। इसका प्राचीन अर्थ यही था। परन्तु उपनिषद् का अर्थ रहस्यमय सिद्धान्त भी किया जाता है। कारण यह है कि उपनिषदों में 'इति रहस्यम्' तथा "इति उपनिषदम्" शब्द कई बार आये हैं, जिनसे यह पता चलता है कि रहस्य भी उपनिषद् का पर्यायवाची है। उपनिषद् का अर्थ ऐसी आध्यात्मिक विद्या भी है जिसका अध्ययन करने से समस्त विपत्तियों से वितृष्ण मुमुक्षुजनों की संसार जन्य अविद्या नष्ट हो जाती है और जो उन्हें ब्रह्म की प्राप्ति कराने में समर्थ हैं तथा जिसके अनुशीलन से आवागमन सम्बन्धी समस्त दुःखों का विनाश होजाता है। शंकराचार्य ने कंठोपनिषद् तथा तैत्तिरीयोपनिषद् की व्याख्याओं में उपनिषद् का ब्रह्म विद्या ही अर्थ किया है। वैसे ब्रह्म के स्वरूप तथा जीव एवं जगत सम्बन्धी अन्यान्य विषयों का विवेचन इन उपनिषद्-ग्रन्थों में मिलता है। अतः इनकी उपनिषद् संज्ञा अन्वर्थ है।

उपनिषदों के विकास के बारे में अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि इनके दार्शनिक विचारों का श्रीगणेश हमें ऋग्वेद के उन सूक्तों में मिल जाता है जिनमें देवताओं के प्रति संदेह प्रकट किया गया है। वैसे सर्व-साधारण तो यही समझते हैं कि संहिता तथा ब्राह्मण काल में केवल यज्ञ सम्बन्धी शुष्क विचारों को लेकर ही ग्रन्थ रचे गये थे। परन्तु आर्यों का उर्वर मस्तिष्क केवल यज्ञों के विधान की बारीकियाँ बताने ही में उलझा नहीं रह सकता था, उसमें आत्मा एवं ब्रह्म सम्बन्धी विचार भी उठते रहते थे और उन्हीं का विवेचन उपनिषदों में मिलता है। इन दार्शनिक विचारों का उदय सर्वप्रथम राजन्य वर्ग में पाया जाता है और ये ही राजा लोग पुरोहितों को उपनिषद् का ज्ञान सिखाते हुए वर्णन किये गए हैं। कौषीतकि ब्राह्मण के राजा प्रतर्दन, शतपथ ब्राह्मण के राजा जनक बृहदारण्यक के अश्वपति कैकेय आदि ऐसे ही राजन्य हैं जो पुरोहितों को उपनिषद् के दार्शनिक ज्ञानकी शिक्षा देते हैं। इस तरह ब्राह्मण ग्रन्थों

के अध्ययन से पता चलता है कि जिस समय ब्राह्मण पुरोहित यज्ञ संबंधी विधानों के आडम्बर में उलझे हुए थे उस समय राजा लोग उपनिषदों की ब्रह्म-विद्या का अन्वेषण कर रहे थे। इस प्रकार उपनिषदों का ज्ञान प्राप्त करने में ब्राह्मणेतर जातियों का ही अधिक हाथ रहा। बौद्ध तथा जैन सम्प्रदाय भी इन्हीं दार्शनिक विचारों के फलस्वरूप पल्लवित हुए, जिन्होंने उत्पन्न होकर ब्राह्मण-धर्म तथा यज्ञीय विचारों की नींव हिलाई थी। फिर भी कुछ पुरोहित भी ऐसे थे जो दार्शनिक विचारों का ज्ञान रखते थे। यद्यपि यज्ञ-सम्बन्धी विचार ही ब्राह्मणों के लिये लाभप्रद थे क्योंकि यज्ञ से ही उनकी जीविका चलती थी, परन्तु ब्राह्मणों के गुरुकुलों में दार्शनिक विचारों की ही प्रधानता थी। विंटरनिट्ज़ का मत है कि ब्राह्मणों में परिस्थिति के अनुकूल अपने को परिवर्तित करने की क्षमता सदैव रही है। बुद्ध के प्रभाव को बढ़ता देखकर उनको भी अवतारों की परम्परा में सम्मिलित कर लिया तथा आश्रमों की स्थापना करके संन्यास का मार्ग सभी के लिए खोल दिया। इस प्रकार ब्राह्मण वर्ग भी धीरे-धीरे उपनिषद् के सिद्धान्तों को सीखने लग गया था।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ब्राह्मणों के उत्कर्ष के समय से पूर्व ही उपनिषद् के सिद्धांत यहाँ फैले हुए थे। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में इन सिद्धान्तों के बीज मिलते हैं, फिर भी मैक्समूलर महोदय ने ब्राह्मणों के २०० वर्ष बाद उपनिषदों का समय माना है। यह दूसरी बात है कि कुछ उपनिषद् ब्राह्मण ग्रन्थों के २०० वर्ष बाद बने हों, परन्तु सभी उपनिषद् ब्राह्मणों के बाद के नहीं हो सकते। इनके रचना काल के बारे में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है, परंतु इतना तो सभी स्वीकार करते हैं कि प्रमुख-प्रमुख उपनिषदों की रचना बुद्ध के पहले ही हो चुकी थी। लोकमान्य तिलक के मतानुसार "मैत्र्युपनिषद्" जिसमें अनेक स्थलों पर छांदोग्य, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, कठ, ईशोपनिषद् आदि के वाक्य उदाहरण के लिए उद्धृत किये गये हैं, लगभग १२०० ई० पूर्व बन चुका था। अतः यह स्वतः सिद्ध है कि उपर्युक्त प्रमुख उपनिषद् ईसा से लगभग १५०० वर्ष पूर्व ही बन चुके थे। कुछ विद्वान् इन्हें वैदिक साहित्य के

शिरोमणि कहकर और भी प्राचीन बतलाते हैं। परन्तु पाश्चात्य विद्वान इन्हें इतनी प्राचीनता देना उचित नहीं समझते। अधिकांश विद्वानों को तो मैक्समूलर का ही मत मान्य है कि उपनिषदों का निर्माण ६०० से ४०० ई० पूर्व तक हुआ। वैसे यह निर्विवाद सत्य है कि ये उपनिषद् वैदिक साहित्य की अंतिम कड़ियाँ हैं। इन्हीं से उत्तरकालीन वेदांत का आविर्भाव हुआ है। इन उपनिषदों में से प्रमुख उपनिषदों का ऐतिहासिक क्रम इस प्रकार है—

(१) ऋग्वेद के उपनिषद् :—ऐतरेय तथा कौषीतकि हैं।

(२) यजुर्वेद के उपनिषद् :—कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय उपनिषद् हैं तथा शुक्ल यजुर्वेद का बृहदारण्यक उपनिषद् है।

(३) सामवेद के उपनिषद् :—छांदोग्य तथा केन हैं।

उपर्युक्त ६ उपनिषद् अत्यन्त प्राचीन हैं, जिनमें वेदान्त के सिद्धांत अपने मूल रूप में विद्यमान हैं। कुछ उपनिषद् इनके उपरान्त लिखे गये, जो बौद्ध काल से तो पहले के हैं परन्तु उपर्युक्त उपनिषदों के आरण्यकों के भाग नहीं है इनमें निम्नलिखित उपनिषद् प्रमुख हैं :---

(१) कठोपनिषद् या कठकोपनिषद्---यह कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध ज्ञात पड़ता है।

(२) श्वेताश्वतर उपनिषद्---यह भी कृष्णयजुर्वेद का उपनिषद् है।

(३) महानारायण उपनिषद्--इसका भी संबंध कृष्णयजुर्वेद से है।

(४) ईशोपनिषद् - यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है और वाजसनेयि संहिता के अंत में स्थित है। यह शुक्ल यजुर्वेद से संबंधित है।

(५) मुंडकोपनिषद्—यह गद्य-पद्य दोनों में लिखा गया है तथा इसका संबंध अथर्ववेद से है।

(६) प्रश्नोपनिषद्—यह भी आधा गद्य में तथा आधा पद्य में मिलता है और यह अथर्ववेद से सम्बद्ध है।

उपर्युक्त ६ उपनिषदों में यद्यपि वेदान्त के सिद्धान्तों का ही विवेचन है, परन्तु इसके साथ ही सांख्य और योग के सिद्धान्तों को भी विस्तृत

समीक्षा मिलती है। स्वामी शंकराचार्य ने उक्त १२ उपनिषदों को ही प्राचीन माना है और इन पर ही टीकायें लिखी हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त मैत्रायिणी तथा मांडूक्य उपनिषद् भी प्रामाणिक माने जाते हैं। यद्यपि इनका निर्माण बुद्धजी के उपरान्त हुआ था, फिर भी इनको प्राचीन माना जाता है। इस प्रकार कुल १४ उपनिषदों को प्राचीन एवं प्रामाणिक माना जाता है। किंतु महानारायण उपनिषद् के तीनसंस्करण मिलते हैं, जिसके कारण इसकी प्रामाणिकता में संदेह है।

उपनिषदों के सिद्धांत :— (१) ब्रह्म सिद्धांत—उपनिषदों के सभी सिद्धान्त ब्रह्म तथा आत्मा पर आधारित हैं। यह ब्रह्म ही उपनिषदों में आत्मा माना गया है और सारा विश्व ब्रह्म कहा गया है। यह ब्रह्म शब्द वेदों में 'प्रार्थना' अथवा जादू - सिद्धान्त आदि के अर्थ में आया है। वहाँ ब्रह्म शब्द के अन्तर्गत भक्ति तथा श्रद्धा का भाव नहीं है। परन्तु आगे चलकर जब वेद-मंत्रों का संकलन हुआ और तीनों वेदों को 'वेदत्रयी' अथवा 'त्रयी विद्या' के नाम से कहा गया तब संक्षेप में त्रयी विद्या को 'ब्रह्मन्' कहा जाने लगा। परन्तु जैसे ही वेदों को ईश्वरीय कहा जाने लगा वैसे ही ब्रह्मन् को भी 'स्वयंभू' आदि शब्दों से अभिहित किया जाने लगा। अतः इस ब्रह्म शब्द को श्रद्धा या ईश्वरत्व का रूप पुरोहितों ने प्रदान किया। उपनिषदों में आकर इस ब्रह्म को सविशेष (सगुण) तथा निर्विशेष (निर्गुण) रूप प्रदान किया गया है। मुंडकोपनिषद् में निर्विशेष ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार मिलता है :—

"यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णम चक्षुःश्रोत्रम् तदपाणिपादम॥"

और सविशेष ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

"नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूति योनि परिपश्यन्ति धीराः" बतलाया गया है। इस सगुण निर्गुण ब्रह्म पर आचार्यों ने अपने-अपने मत दिये हैं। शंकराचार्य निर्गुण तथा रामनुजाचार्य सगुण के प्रतिपादक हैं। परन्तु उपनिषदों में दोनों का समान रूप से प्रतिपादन मिलता है।

(२) आत्मा संबंधी सिद्धांत—उपनिषदों में शांडिल्य का आत्मा सम्बन्धो यह मत दिया गया है कि आत्मा अमर है, आत्मा ही ब्रह्म है तथा आत्मा ही सब कुछ है। इसी आत्मा में समस्त ब्रह्माण्ड निहित है। यहीं पर "तत्वमसि" का भो सिद्धान्त मिलता है जो आगे चलकर अधिक महत्वशाली माना गया। इसके अनुसार आत्मा एवं परमात्मा तथा संसार एवं ब्रह्म की एकता बतलाती गई है। इस एकता एवं ब्रह्म की व्यापकता को श्वेतकेतु तथा उद्दालक की कथा में इस प्रकार बतलाया गया है जैसे कि नमक पानी में घुल जाने पर दिखाई नहीं देता वैसे ही यह ब्रह्म समस्त आत्माओं एवं विश्व में व्याप्त है और दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार गार्ग्य बालाकी तथा राजा अजातशत्रु की कहानी में भी ब्रह्म की व्यापकता समझाई गई है। छांदोग्य उपनिषद् में इन्द्र तथा विरोचन की कथा में आत्मा के स्वरूप को जानने की ओर संकेत किया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी के सम्वाद के अन्तर्गत आत्मा की अजर-अमरता एवं उसकी एकरूपता का वर्णन अत्यन्त रोचक ढङ्ग में मिलता है। वहाँ ब्रह्म तथा संसार को भी आत्मा के अन्तर्गत ही बतलाया है।

(३) प्राण सिद्धान्त—समस्त इन्द्रियों में प्राण की महत्ता सर्वोपरि मानी गई है। छांदोग्य उपनिषद् में एक वार्ता आयी है कि एक बार समस्त इन्द्रियाँ अपने-अपने को बड़ा समझकर आपस में झगड़ने लगीं। अन्त में अपना फसला कराने के लिए प्रजापति के समीप आईं। प्रजापति ने बतलाया कि अन्य सभी इन्द्रियों के न रहने पर भी शरीर का काम चल सकता है परन्तु प्राण के विना शरीर बेकार है। अतः प्राण ही सर्वश्रेष्ठ है। यह विषय मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखता है, परन्तु इसका भी बड़ा रोचक एवं स्वाभाविक वर्णन उपनिषदों में मिलता है। वहाँ यह प्राण ही आत्मा माना गया है।

(४) आवागमन का सिद्धान्त—बृहदारण्यक उपनिषद् में प्राण को आत्मा बतलाते हुए आवागमन के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन

किया है। यह आत्मा एक शरीर को छोड़ कर दूसरा शरीर धारण करती रहती है, यही इस सिद्धान्त का सार है।

(५) कर्म-सिद्धान्त—बृहदारण्यक उपनिषद् के आर्तभाग तथा याज्ञवल्क्य का जो संवाद आया है उसमें कर्म-सिद्धान्त का विवेचन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि मनुष्य के मरने पर उसके पार्थिव शरीर के समस्त अंश तो पाँचों तत्वों में मिल जाते हैं, परन्तु यहाँ केवल उसके कर्म ही रहते हैं। अतः कोई मनुष्य अपने अच्छे कर्मों द्वारा अच्छा तथा बुरे कर्मों द्वारा बुरा होजाता है। इस सिद्धान्त में चरित्र पर अधिक जोर दिया गया है। यही सिद्धान्त बौद्ध धर्म में भी अधिक मान्य रहा।

(६) नैतिक सिद्धान्त—उपनिषदों में अल्प संख्या में नैतिक सिद्धान्त भी मिलते हैं। जैसे बृहदारण्यक उपनिषद् में प्रजापति ने सारे देवताओं और राक्षसों को तीन शब्दों का उपदेश दिया था। वे तीन शब्द "द द-द" थे जिनका अर्थ क्रमशः दाम्यत् अर्थात् आत्म संयम, दत्त अर्थात् दान देना तथा दयध्वम् अर्थात् दया करना है। ये नतिक सिद्धान्त इसीलिये रखे गये थे जिससे मानव बुरे कामों से बचा रहे और सत्य आत्मा का पता लगाकर ब्रह्म के स्वरूप को पहिचान सके।

इस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्म एवं आत्मा का सम्यक् विवेचन हुआ है। कुछ लोगों ने उपनिषदों के वैराग्य सम्बन्धी विचारों को भारतीय निराशावाद कहा है, क्योंकि वे सांसारिक सुखों में भी दुःख मानते हैं, जैसाकि बौद्धों ने मैत्रायिणी उपनिषद् को माना हैं। परन्तु ऐसा समझना सर्वथा भ्रममूलक है। क्योंकि उपनिषदों में आत्मा को आनन्द रूप माना है। ऐसे परमानंद स्वरूप आत्मा या ब्रह्म को चाहने वाले कभी निराशावादी नहीं हो सकते, वे तो सबसे बड़े आशावादी हैं। इन उपनिषदों का आगे चलकर बड़ा महत्व माना गया। बादरायण के वेदान्त सूत्र इन्हीं के आधार पर लिखे गये। शंकराचार्य तथा रामानुजाचार्य के सिद्धान्तों की आधार-शिला भी ये ही उपनिषद् हैं। प्राचीन

बौद्ध सिद्धान्त भी उपनिषदों का आधार लेकर ही स्थापित हुए। अतः उपनिषद् सर्वोत्तम मानवीय ज्ञान के भंडार हैं और हज़ारों वर्षों के उपरान्त भी पर्याप्त ज्ञान बतलाने वाले हैं। मानव इतिहास के अध्येताओं के लिए मानव विचारों का सुन्दर रहस्य जैसा उपनिषदों में मिल सकता है वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

अध्याय ३

सूत्र-काल

प्रश्न १०—संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत सूत्र-साहित्य के उद्गम का अन्वेषण कीजिये तथा सूत्र ग्रन्थों (वेदांगों) का विवरण प्रस्तुत करते हुए ब्राह्मण ग्रन्थों से उनके संबंध की समीक्षा कीजिये।

उत्तर—माण्डूक्योपनिषद् में दो प्रकार की विद्या बतलाई गई है। अर्थात् प्रथम परा तथा द्वितीय अपरा के नाम से अभिहित हैं। परा उत्तम विद्या है, जिससे अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है। अपरा विद्या चतुष्टयी तथा षड्वेदाङ्ग है। षड्वेदाङ्ग के अन्तर्गत कल्प, शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष आते हैं। वेदांग का अर्थ है वेदों का अङ्ग विशेष। ये अङ्ग उपर्युक्त रूप में ६ हैं। प्राचीन काल में इन वेदांगों से केवल इन पुस्तकों का ज्ञान नहीं होता था, अपितु इनके द्वारा वेदार्थ समझने में सहायता मिलती थी। वैसे इन वेदांगों का प्रारम्भ ब्राह्मणों तथा आरण्यकों में ही होगया था। धीरे-धीरे इन विषयों पर अलग पुस्तकें लिखी जाने लगीं और अन्त में वेदांगों की संख्या भी स्थिर हो गई।

वैसे सूत्रकाल का आरम्भ ब्राह्मण काल के पश्चात् होता है। इस काल में हम 'श्रुति' से हटकर 'स्मृति' में आते हैं। सूत्र का अर्थ है एक संक्षिप्त परिभाषा या संकेत। अनेक सूत्रों के समाहार को भी सूत्र कहते हैं। इनका प्रयोग अत्यन्त वैज्ञानिक था। इन सूत्रों में छोटे २ पदों

या वाक्यों के अन्तर्गत विपुल अर्थ के प्रयोगों का समावेश किया जाता था। ब्राह्मण काल में यज्ञ-विधान का इतना विस्तार होगया था कि उस सभी को याद रखना सर्वथा असंभव सा दिखाई देने लगा, तब उन सभी बातों को याद रखना सर्वथा असम्भव सा दिखाई देने लगा, तब उन सभी बातों को याद रखने के लिए छोटे-छोटे सूत्रों के निर्माण की आवश्यकता हुई। विचार्य विषयों को स्मृति में सदैव स्थिर रखने के लिए ये छोटे-छोटे सूत्र बड़े सहायक सिद्ध होते थे। संसार के समस्त साहित्य में भारतीय सूत्र-शैली एक अद्भुत एवं अनुपम है। इन सूत्रों की प्रथा इतनी बढ़ी कि अत्यन्त संक्षिप्त रूप देने के लिए प्रत्येक विद्वान उत्सुक रहने लगे। इसी कारण पतंजलि ने लिखा है कि "अर्द्ध मात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यते वैयाकरणः।" कालान्तर में इन सूत्रों का समझना सबके लिए सुगम न रहा। अतः इन सूत्रों पर टीकाएँ भी लिखी गईं। इस समय तो सभी सूत्र-ग्रन्थों पर वड़े-बड़े भाष्य मिलते हैं, जिनकी सहायता से उनका समझना सर्वथा सुगम है।

इस प्रकार इस सूत्र-शैली का जन्म ब्राह्मण-ग्रंथों से ही माना जाता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों का गद्य अत्यन्त छोटे-छोटे वाक्यों में लिखा गया है। सूत्र-साहित्य में भी ऐसे ही गद्य को महत्व दिया गया है। आधुनिक काव्यों में जो लम्बी-लम्बी समास-शैली दिखाई देती है इसका भी सूत्रपात सूत्र-साहित्य से ही हुआ है। समस्त प्राचीन सूत्र-ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय ब्राह्मण ग्रन्थों अथवा आरण्यकों से ही सम्बन्ध रखता है। केवल शैली ही नहीं विषय की दृष्टि से भी सूत्र साहित्य का विकास ब्राह्मण-ग्रन्थों से ही हुआ है। ब्राह्मण ग्रन्थ ही सूत्र-साहित्य के उद्गम है क्योंकि ब्राह्मणों का कोई भी विषय सूत्र ग्रन्थों में छोड़ा नहीं गया है। अनुश्रुति तो यहाँ तक है कि आश्वलायन तथा शौनक जैसे सूत्रकारों ने अपने सूत्र-ग्रन्थों का निर्माण ऐत्तरेय ब्राह्मण अथवा ऐत्तरेय आरण्यक से ही किया था।

प्रमुख सूत्र-ग्रंथ एवं उनके वर्ण्य-विषय

[१]-कल्प सूत्र—समस्त सूत्र साहित्य वेदाङ्ग कहलाता है। इन सूत्र ग्रन्थों अथवा वेदाङ्गों में "कल्प सूत्र" सबसे प्रमुख एवं प्राचीन माने जाते हैं। इनमें ब्राह्मणों-ग्रन्थों की ही व्याख्या की गई हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के यज्ञानुष्ठानों की विधियों को संक्षेप में याद रखने के लिए ही इन कल्प-सूत्रों का निर्माण हुआ था। ये कल्प सूत्र दो प्रकार के हैं—श्रौतसूत्र तथा स्मार्त सूत्र। श्रौत का अर्थ है श्रुति या वेद अथवा यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाला तथा स्मार्तसूत्र दो रूपों में मिलते हैं उनमें से कुछ तो 'गृह्यसूत्र हैं' तथा कुछ 'धर्म सूत्र' हैं।

अ-श्रौत सूत्र—श्रौत सूत्रों का निर्माण यज्ञ-क्रियाओं और उनके नियमादि को रट कर याद रखने के लिये हुआ। ये सूत्र ऋत्विजों अथवा पुरोहितों के लिए बने थे। इन श्रौत सूत्रों में तीन प्रकार की अग्नियों अथवा आह्वनीय, गार्हपत्य तथा दक्षिणाग्नि के आधान, अग्निहोत्र, दर्श या पौर्णमास्य नामक यज्ञों, पशुयाग, ऋतुयाग, सोमयज्ञ आदि का वर्णन मिलता है। अतः श्रौतसूत्र धार्मिक इतिहास के अन्तर्गत यज्ञानुष्ठानों के ज्ञान के लिए अत्यन्त उपादेय हैं।

आ-गृह्य सूत्र—गृह्यसूत्रों में विविध विषय मिलते हैं। इनमें मनुष्य के गर्भाधान से मृत्युपर्यन्त समस्त संस्कारों तथा श्राद्ध आदि का विधान है। रीति एवं उपचार का वर्णन ही इनका प्रमुख विषय है। संस्कारों के सम्बन्ध में तत्कालीन आचार-नियमों के देखने से भारतीय पवित्रता की शृङ्खला का परिचय मिलता है। इन सोलह संस्कारों में से उपनयन तथा विवाह संस्कार का सांगोपांग वर्णन इन गृह्यसूत्रों में मिलता है। साथ ही पंच महायज्ञ, आदि का भी वैसा ही वर्णन यहाँ मिलता है जैसा कि शतपथ ब्राह्मण में है। पंच महायज्ञों को प्रत्येक गृहस्थ के लिए, विशेषरूप से प्रत्येक गृहस्वामी के लिए अनिवार्य बतलाया है। ये यज्ञ देव, पितृ, ऋषि, असुर तथा अतिथियों के लिये नित्य करने चाहिये। इसी प्रकार प्रातः एवं साँयकाल के यज्ञ, पूर्ण यज्ञ,

अर्ध पौर्णमासयज्ञ, अग्निहोत्र, चातुर्मास्य आदि यज्ञों का भी इनमें विशेष वर्णन मिलता है। इनके अलावा गृह निर्माण, पशुपालन, कृषि, जादू टौना, उत्सव, अपशकुन आदि विविध विषयों का भी उल्लेख यहाँ मिलता है। श्राद्धों के विषय का तो यहाँ विस्तृत उल्लेख किया गया है और इसके लिये एक 'श्राद्ध-कल्प' ही अलग बन गया है। इस प्रकार गृह्यसूत्रों में भले ही साहित्यिकता नहीं है, परन्तु तत्कालीन भारतीय समाज के घरेलू आचार-विचार, भिन्न-भिन्न प्रांतों के रीति-रिवाज, जीवन की विविध कार्य प्रणालियाँ तथा समाज की अन्तमुखी प्रवृत्तियों का पूर्ण परिचय यहाँ मिल जाता है। इन गृह्यसूत्रों में वर्णित वैवाहिक रीतियों को ग्रीक, रोमन, ट्य टानिक, स्लोवानिक वैवाहिक पद्धतियों से मिला सकते हैं, जो कि प्रागैतिहासिक युग में यहाँ विद्यमान थीं। इस प्रकार गृह्यसूत्रों में समाजशास्त्र तथा जातिशास्त्र सम्बन्धी तत्व भरे पड़े हैं।

इ—धर्मसूत्र—धर्मसूत्र गृह्यसूत्रों की ही एक शृंखला के रूप में मिलते हैं। ये गृह्यसूत्र के ही एक भाग हैं। इनमें धार्मिक नियमों तथा राजा एवं प्रजा के कर्त्तव्यों का विस्तृत वर्णन है। इन्हीं धर्म सूत्रों से याज्ञवल्क्य स्मृति, मनुस्मृति आदि स्मृति-ग्रन्थों का विकास हुआ है, जो व्यवहार शास्त्र के अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ माने जाते हैं।

ई—शुल्वसूत्र—शुल्व का अर्थ है नापने की रस्सी। इन शुल्वसूत्रों का निर्माण यज्ञ की भूमि एवं वेदियों को नापकर बनाने के लिए हुआ था इन सूत्रों का सम्बन्ध श्रौतसूत्रों से है। क्योंकि ये भी यज्ञानुष्ठान के एक भाग की पूर्ति करते हैं। शुल्वसूत्रों में वेदियों का नापना, उनके लिए स्थान चुनना तथा वेदी-रचना आदि का विस्तृत वर्णन है। ये सूत्र भारतीय ज्यामित-शास्त्र के अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ हैं। इतना ही नहीं ज्यामित के जिस सिद्धान्त के आविष्कार करने का श्रेय पाश्चात्य विद्वान यूनानी दार्शनिक पाइथोगोरस को देते हैं उसकी स्थापना भारत में सैकड़ों वर्ष पहले ही इन शुल्वसूत्रों में हो चुकी थी।

उपर्युक्त समस्त कल्पसूत्रों का निर्माण वेदों का अर्थ समझने के

लिए ही हुआ था, क्योंकि इनमें केवल यज्ञीय विधान ही नहीं, अपितु प्रार्थना तथा क्रिया सम्बन्धी मंत्र एवं विनयोग भी दिये गये हैं इन कल्प-सूत्रों का विवरण इस प्रकार है :—

क—ऋग्वेद के कल्पसूत्र—आश्वलायन तथा सांख्यायन हैं। इन दोनों में श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र सम्मिलित हैं।

ख—शुक्ल यजुर्वेद के कल्पसूत्र—कात्यायन श्रौतसूत्र, पारस्कर गृह्यसूत्र और कात्यायन शुल्वसूत्र—इस तरह तीन सूत्र ग्रन्थ हैं।

ग—कृष्ण यजुर्वेद के कल्पसूत्र—इसकी बौधायन तथा आपस्तम्ब शाखा के कल्पसूत्र सब तरह पूर्ण हैं क्योंकि इनमें श्रौत, गृह्य, धर्म तथा शुल्व सभी प्रकार के सूत्र विद्यमान हैं।

घ—सामवेद के कल्पसूत्र—लाट्यायन और द्राह्यायन श्रौतसूत्र जैमिनीय श्रौतसूत्र, जैमिनीय गृह्यसूत्र, गोमिल तथा खदिर गृह्यसूत्र प्रसिद्ध हैं। इसी वेद के आर्षेयकल्पसूत्र या मशककल्पसूत्र भी हैं।

ङ—अथर्ववेद के कल्पसूत्र—वैतान श्रौतसूत्र तथा कौशिक सूत्र प्रसिद्ध हैं। इनमें नाना प्रकार की जादू, इन्द्रजाल आदि का वर्णन है। प्राचीन भारत के व्यभिचार एवं जादू आदि का अध्ययन करने के लिए ये सूत्र अत्यन्त उपादेय हैं।

[२] शिक्षा-सूत्र—शिक्षा-सूत्र भी कल्पसूत्रों की ही भाँति प्राचीन हैं। कल्पसूत्र जैसे ब्राह्मण-ग्रन्थों के पूरक हैं, वैसे ही शिक्षा-सूत्र संहिता के पूरक हैं। इन शिक्षा-सूत्रों में वैदिक संहिताओं के ठीक-ठीक उच्चारण का विवेचन किया गया है। इन शिक्षासूत्रों का प्राचीनतम उल्लेख तैत्तिरीय उपनिषद् (१-२) में मिलता हैं, जहाँ इन सूत्रों के ६ प्रकरणोंकी चर्चा है। ये प्रकरण क्रमशः वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और संतान के नाम से दिये गये हैं। संहितापाठ तथा पदपाठ शिक्षा के प्राचीन

तम आविष्कार हैं। इससे स्पष्ट है कि शिक्षासूत्रों का उद्देश्य यज्ञीय मंत्रों का ठीक-ठीक उच्चारण करना तथा वेदोच्चारण में कही त्रुटि न आने देना है। ऋग्वेद के संहितापाठ का पदपाठ शाकल्य मुनि द्वारा किया गया है, जिसका उल्लेख ऐतरेय आरण्यक में है।

सारांश यह है कि संहितापाठ और पदपाठ शिक्षा के प्राचीनतम आविष्कार हैं। इस शिक्षा-वेदांग की सबसे प्राचीन रचनाएँ "प्रातिशाख्य" हैं, जिनमें संहितापाठ से पदपाठ बनाने के लिये नियम दिए हुए हैं। साथ ही ध्वनि नियमों की ओर भी संकेत किया गया है। स्वरों का दीर्घ, ह्रस्व, प्लुत उच्चारण का विधान बल, मात्रा तथा वर्णों के लघु गुरु होने के नियम तथा संहिताओं के उच्चारण व ध्वनियों के सभी नियमों का उल्लेख इन शिक्षासूत्रों में मिलता है। ऋग्वेद का प्रातिशाख्य आश्वलायन के गुरु शौनक का रचा हुआ बतलाया जाता है। यह ग्रंथ पद्यात्मक है, जो प्राचीनकाल में सूत्र रूप में था। तैत्तिरीय प्रातिशाख्यसूत्र तैत्तिरीय संहिता का है। कात्यायन द्वारा रचित बाजसनेयि संहिता का एक बाजसनेयि प्रातिशाख्य सूत्र मिलता है। साथ ही अथर्ववेद का एक अथर्ववेद प्रातिशाख्य सूत्र मिलता है जो शौनकशाखा से संबद्ध माना जाता है। एक सामवेद का प्रातिशाख्य सूत्र भी मिलता है जो पुष्पसूत्र कहलाता है तथा जो सामवेद के उत्तरगान का प्रातिशाख्य सूत्र है। इसके साथ ही एक पंचविधिसूत्र भी मिलता है जिसमें यज्ञों में गाये जाने वाले सामवेद के गीतों के नियम दिये गए हैं। इन प्रातिशाख्यों का महत्व दो प्रकार से स्वीकार किया जाता है। प्रथम तो ये संस्कृत व्याकरण के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। दूसरे, इनसे यह सिद्ध होता है कि प्रातिशाख्यों के समय से अब तक हजारों वर्षों के व्यतीत हो जाने पर भी संहिताओं के पाठ में किंचित् अन्तर नहीं मिलता। प्रातिशाख्य यद्यपि व्याकरण के ग्रन्थ नहीं हैं, तथापि वे व्याकरण के विषय पर प्रकाश डालते हैं।

प्रातिशाख्यों की महत्ता इसीलिए है कि ये शिक्षा-वेदांगों के प्राचीनतम प्रतिनिधि हैं। इनके अतिरिक्त शिक्षा सम्बन्धी कुछ और भी ग्रन्थ

मिलते है जो भारद्वाज, व्यास, वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य आदि के द्वारा रचे गये बतलाये जाते हैं। परन्तु ये बाद में रचे गए हैं। कुछ ग्रन्थ प्राचीन भी हैं, जैसे तैत्तिरीय प्रातिशाख्य से सम्बद्ध एक व्यास-शिक्षा का उल्लेख मिलता है जो काफी पुराना ग्रन्थ है। इसके अलावा शिक्षा-वेदांग से मिलती-जुलती कुछ "अनुक्रमणिकायें" मिलती हैं, जिनमें वैदिक संहिताओं की सूची दी गई हैं तथा जो शौनक एवं कात्यायन के द्वारा लिखी हुई मानी जाती हैं।

[३] निरुक्त—निरुक्त पर हमें इस समय केवल महर्षि यास्क का ही ग्रन्थ उपलब्ध है। इसमें संदेह नहीं कि ऐसे और भी ग्रन्थ यहाँ बने होंगे परन्तु आज अन्य कोई भी उपलब्ध नहीं है। निरुक्त-वेदांग से पता चलता है कि ऋग्वेद का पाठ बिल्कुल शुद्ध है। अनुश्रुति के अनुसार निघंटु भी महर्षि यास्क कृत माना जाता है। इसमें शब्दों की सूची दी गई है। परन्तु देखा जाय तो निघंटु यास्क कृत नहीं है क्योंकि इस बात को उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है। उनका कथन है कि निघंटु की रचना प्राचीन ऋषियों ने की है। यास्क ने तो उस पर केवल टीका लिखी है। निघंटु का निर्माण भी वेदार्थ समझने के लिए हुआ था। निघंटु में शब्दों की पाँच सूचियाँ दी गई हैं जो तीन भागों में विभक्त हैं। जिनके नाम क्रमशः निघंटु कांड, नैगम काण्ड तथा दैवत काण्ड हैं। निघंटु काण्ड में वैदिक शब्दों का एक विशेष क्रम से संग्रह किया गया है। नैगमकांड में वेद के कठिन शब्दों की व्याख्या की गई है और दैवत काण्ड में पृथ्वी, आकाश तथा अंतरिक्ष स्थानीय देवताओं के तीन वर्ग स्थापित किए गए हैं। वैदिक भाष्यों में निरुक्त का स्थान ही सर्वप्रथम माना जाता है। यास्क का समय स्थिर करना कठिन है परन्तु फिर भी ६०० तथा ५०० ई० पू० के लगभग यास्क विद्यमान थे।

[४] छंद—सूत्र साहित्य में छंद-साहित्य का भी उल्लेख मिलता। है छंद भी वेदांग माने जाते हैं। सामवेद का निदान-सूत्र छन्द का ही ग्रन्थ है, जिसमें केवल छन्दों का ही विवेचन नहीं मिलता, अपितु साम-

वेद के उक्थ, स्तोम तथा गान सम्बन्धी अन्य नियम भी दिये हुए हैं। व्याकरण की दृष्टि से भी यह छन्द-ग्रन्थ महत्वशाली है। ऋग्वेद तथा यजुर्वेद का भी एक छन्द सम्बन्धी वेदाङ्ग "पिंगल" माना जाता है परन्तु इसकी दो शाखायें मिलती हैं। अतः यह बाद का जान पड़ता है। साथ ही इसमें कुछ ऐसे भी छन्दों पर विचार किया है जो बाद के काव्यों में प्रयुक्त हुए हैं। ये छन्द-सूत्र वेदाङ्ग की अन्तिम कड़ी माने जाते हैं।

[५] **ज्योतिष**—ज्योतिष भी वेदाङ्ग माना गया है। ज्योतिष सम्बन्धी सूत्रों का एक "ज्योतिष-वेदाङ्ग" नामक छोटा सा पद्यात्मक ग्रंथ मिलता है, जिसमें २७ नक्षत्रों, चन्द्रमा तथा सूर्य आदि ग्रहों पर विचार किया गया है। इसमें २७ नक्षत्रों के बीच में सूर्य चन्द्र की स्थिति का सम्यक् विवेचन है तथा नक्षत्रों की गणना सम्बन्धी नियम भी दिये गये हैं।

[६] **व्याकरण**—व्याकरण संबन्धी प्राचीन सूत्र-ग्रन्थ तो प्रायः नष्ट होचुके हैं। इस वेदाङ्ग का निर्माण भी वेदों के अध्ययन की सुविधा के लिए हुआ था। आरण्यकों में हमें जहाँ-तहाँ व्याकरण संबंधी कुछ पारिभाषिक नियम मिल जाते हैं। इस व्याकरण पर जो प्राचीनतम ग्रन्थ प्राप्त हैं उनमें पाणिनि की अष्टाध्यायी सबसे अधिक महत्वशाली है। यद्यपि इसमें वैदिक व्याकरण पर बहुत कम विचार किया गया है और न यह किसी वेद की शाखा से ही सम्बद्ध है, परन्तु इसमें भी वैदिक प्रक्रिया का सुन्दर उल्लेख मिलता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि वैदिक अध्ययन की सुगमता के लिए भी कभी वेदों के व्याकरण रचे गये होंगे, परन्तु आज वे सभी लुप्त हैं। स्वयं पाणिनि ने शाकटायन आदि जिन आचार्यों का उल्लेख किया है, उनके भी ग्रन्थ आज नहीं मिलते। परन्तु अष्टाध्यायी का सम्बन्ध वेद की अपेक्षा लौकिक संस्कृत से अधिक है। इसके अध्ययन से पता चलता है कि साहित्य धीरे-धीरे धर्म के संकीर्ण घेरे से निकल कर स्वतन्त्र होने लगा था तथा एक प्रकार

के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का भी उत्तरोत्तर विकास होने लगा था। अष्टाध्यायी के समस्त सूत्र धर्म की श्रृङ्खलाओं से सर्वथा उन्मुक्त हैं। पाणिनी ईसुपुजई के पठान इलाके के अन्तर्गत शालातुर गाँव के निवासी थे। ये ब्राह्मण जाति के थे और मगध-साम्राज्य के दिनों में पाटलिपुत्र में आ बसे थे। इनकी जीवन-गाथा "मन्जुश्रीमूलकल्प" नामक ग्रन्थ से प्राप्त हुई है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होजाता है कि सूत्र-साहित्य अत्यंत प्राचीन है और ६ भागों में विभक्त होकर षड् वेदांग भी कहलाता है। इस समस्त साहित्य का निर्माण केवल वैदिक मंत्रों एवं वेदों में वर्णित प्रक्रियायों को याद रखने के लिए हुआ था। कहीं-कहीं यह सूत्र-साहित्य इतना वैज्ञानिक दिखाई देता है कि उसे देखकर तत्कालीन बुद्धि की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जाता। वैसे तो सारा वैदिक साहित्य ही संक्षिप्त रूप में इन सूत्रों के अन्तर्गत विद्यमान है, परन्तु कहीं-कहीं वैदिक बातों से आगे बढ़कर और और धार्मिक, राजनैतिक, साहित्यिक, ज्योतिष तथा व्याकरण सम्बन्धी बातें भी आ गई हैं, जो अत्यन्त वैज्ञानिक ढङ्ग से समझाई गई हैं। इस तरह इन सूत्र ग्रन्थों का संबंध केवल ब्राह्मण ग्रन्थों से ही नहीं है, अपितु समस्त वैदिक संहिताओं से है, परन्तु अपने विषय के प्रतिपादन में वे सर्वथा स्वतन्त्र से दिखलाई देते हैं।

अध्याय ४

महाकाव्य-काल

प्रश्न ९९—रामायण के रचना काल तथा प्रक्षिप्त अंश की समीक्षा कीजिए।

उत्तर—भारतीय साहित्य-शास्त्री रामायण को आदि काव्य तथा रामायण-रचयिता बाल्मीकि मुनि को आदि-कवि कहते हैं। रामायण में केवल युद्धों एवं विजयों का ही वर्णन नहीं है अपितु इसमें आलंकारिक

भाषा के अन्तर्गत मानव-जीवन तथा प्रकृति के अत्यन्त रमणीय चित्र अङ्कित किए गए हैं। इस प्रकार रामायण एक ऐतिहासिक महाकाव्य के साथ-साथ अलंकृत शैली का भी भव्य रूप प्रस्तुत करती है। संसार की समस्त रचनाओं में यह सर्वाधिक लोक-प्रिय सिद्ध हुई है और अपने रचना-काल से अद्यावधि यह समस्त कवियों एवं नाटककारों के हृदय में नवीन चेतना एवं नव स्फूर्ति का संचार करती चली आरही है। यह समस्त काव्यांगों की जन्मदात्री है और इसी के आधार पर विष्णु, गरुड़, भागवत, अग्नि आदि पुराणों में राम के पराक्रम की कथायें पाई जाती हैं। भास, कालिदास तथा अन्य संस्कृत के कवियों ने भी इसी से प्रभावित होकर अपने महाकाव्यों की रचना की। यहाँ तक कि बौद्ध कवि अश्वघोष ने भी निस्संकोच रामायण से ही पर्याप्त सामग्री ली है। जैन साधु विमलसूरि (ई० की प्रथम शताब्दी) का ग्रंथ भी रामायण के आधार पर ही लिखा गया है। बौद्ध ग्रन्थों के तिब्बती तथा चीनी अनुवादों में भी राम के शौर्यपराक्रम की कथायें विद्यमान हैं जो संभवतः रामायण की ही देन हैं। स्याम, बाली तथा इनके समीप अन्य द्वीपों में रामायण के मुख्य-मुख्य पात्रों की बड़ी ही सुन्दर कला पूर्ण मूर्तियाँ मिली हैं। इस प्रकार रामायण का प्रभाव दूर-दूर तक दिखाई देता है। कारण यही है कि रामायण के अन्तर्गत आई हुई राम की कथा भी बड़ी चित्ताकर्षक तथा आश्चर्यजनक है। आजकल रामायण में क्षेपक तथा अनेक पाठ-भेद मिलते हैं, जिनके बारे में किसी तथ्य पर पहुँचना सर्वथा कठिन होजाता है। जैसे रामायण के प्रथम बालकाण्ड एवं सप्तम उत्तरकाण्ड को बहुत से विद्वान बाल्मीकि मुनि द्वारा रचित नहीं मानते। उनका मत है कि ये दोनों काण्ड तथा पौराणिक उपाख्यान, जो बीच-बीच में आये हैं, वे बाद में कुशीलवों अथवा अन्य कवियों द्वारा जनता की अभिरुचि के अनुसार जोड़े गए हैं।

रामायण के बालकाण्ड में अनेक ऐसी कथायें आई हैं जो ब्राह्मण धर्म से सम्बन्ध रखती हैं तथा जिनका उल्लेख महाभारत तथा पुराणों

में मिलता है। इनमें से ऋषि शृंग, वशिष्ठ, विश्वामित्र, शुनःशेप, रोहिताश्व-हरिश्चन्द्र, बामन, कार्तिकेय, सगर-पुत्र आदि के उपाख्यान हैं जो मुख्य कथा के साथ जुड़े हुए है। सातवें काण्ड में भी महाभारत के समान धार्मिक कथायें हैं। इसकी मुख्य कथा तो सीता बनवास तथा लवकुश को राज्य देकर राम का स्वर्गारोहण है, परन्तु इसके साथ ही ययाति, नहुष, इन्द्र-वृत्रासुर, वशिष्ठ, अगस्त की जन्मकथा, पुरुरवा-उर्वशी आदि के कितने ही उपाख्यान और मिलते हैं। इसमें ब्राह्मण-धर्म ग्रन्थों से संबंधित शम्बूक की कथा का भी उल्लेख है। इस प्रकार कितने ही परस्पर विरोधी स्थल इन दोनों काण्डों में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त प्रथम तथा सप्तम काण्ड की भाषा-शैली भी अन्य काण्डों से सर्वथा पृथक् है। दूसरे, इन दोनों काण्डों में राम को विष्णु का अवतार बतलाया है, जबकि अन्य काण्डों में राम केवल पुरुषोत्तम के रूप में ही वर्णन किए गए हैं। तीसरे, इन दोनों की कथा में उतना प्रवाह नहीं मिलता, जितना कि अन्य काण्डों में विद्यमान है। इनमें आये हुए उपाख्यानों से कथा-प्रवाह टूट सा गया है। फिर भी महाभारत की अपेक्षा इसमें कम उपाख्यान मिलते हैं। विंटरनिट्ज़ तथा अन्य कितने ही विद्वान उपर्युक्त कारणों से प्रथम तथा सप्तम काण्ड को प्रक्षिप्त ही मानते हैं। इसका एक कारण यह भी है कि बालकाण्ड के प्रथम तथा तृतीय सर्ग में जो विषय-सूची दी गई है उसमें उत्तरकाण्ड का निर्देश नहीं है।

जैकोबी का तो यह मत है कि रामायण की समाप्ति की सूचना लंकाकाण्ड में ही मिल जाती है। अतः उत्तरकाण्ड तो निस्संदेह उत्तरकालीन है। साथ ही इसमें कुछ ऐसी भी कथायें है, जिनका तनिक भी संकेत पहले काण्डों में नहीं मिलता। फिर भी उत्तरकाण्ड अधिक बाद का नहीं हो सकता, क्योंकि बौद्धों के "दशरथ जातक" में पाली भाषा के अन्तर्गत उत्तरकाण्ड के एक श्लोक का पूर्ण रूपान्तर मिलता है। यह जातक तीसरी शताब्दी ई० पूर्व का माना जाता है। अतः इससे सिद्ध है कि इस काल से पहले ही उत्तरकाण्ड की रचना होचुकी थी।

इस आदि काव्य को "चतुर्विंशति सहस्री" (२४०००) भी कहते हैं।

विद्वानों का कथन है कि इसमें गायत्रीमंत्र के अनुसार प्रत्येक हजार श्लोक का प्रथम अक्षर गायत्री के अक्षरों के अनुसार आरम्भ होता है। इस दृष्टि से तो पाश्चात्य मत निर्मूल जान पड़ता है। परन्तु पहले गायत्री मन्त्र वाली बात सिद्ध होजाना आवश्यक है। क्षेपक सिद्ध करने वाले विद्वानों को इसकी एकरूपता में भी संदेह है क्योंकि बम्बई, बंगाल, मद्रास तथा काश्मीरी संस्करणों में पर्याप्त पाठ-भेद मिलता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि कौनसा संस्करण विश्वसनीय तथा मूल रामायण के ठीक रूप को उपस्थिति करता है।

बाह्य साक्ष्य—रामायण महाकाव्य के विकास एवं रचनाकाल की ओर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि वैदिक साहित्य में 'रामायण' का उल्लेख नहीं मिलता। वैसे 'राम-कथा' का कुछ आभास वैदिक साहित्य में है। परन्तु यह निश्चय रूप में नहीं कहा जा सकता कि उपनिषदों में प्रसिद्ध राजा जनक रामायण में वर्णित मिथिलाधीश ही हैं। वेबर ने रामायण का सम्बन्ध यजुर्वेद से जोड़ने का प्रयत्न किया है तथा जैकोबी ने इन्द्र तथा वृत्रासुर के युद्ध को राम-रावण का युद्ध बतलाने का प्रयास किया है। ऋग्वेद में सीता का देवी रूप में वर्णन मिलता है। सूत्र ग्रन्थों में सीता की प्रार्थना मिलती है। परन्तु वैदिक साहित्य की अस्पष्ट एवं रहस्यपूर्ण भाषा से किसी निश्चित तथ्य पर पहुँचना सर्वथा कठिन है।

बौद्ध तथा जैन साहित्य में भी राम-कथा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। बौद्ध कवि कुमारलात (१०० ई०) की "कल्पनामण्डनिका" में ऐसा उल्लेख आया है कि रामायण को सर्वसाधारण पढ़ते थे। जैन कवि विमलसूरि ने राम कथा को अपने "पद्मचरिय" नामक प्राकृत भाषा के महाकाव्य में निबद्ध किया है। इस काव्य की रचना महावीरस्वामी की मृत्यु के ५३० वर्ष बाद लगभग ७२ ई० में हुई थी। महाकवि अश्वघोष ने ७८ ई० में अपने "बुद्धि चरित्र" नामक महाकाव्य में रामायण के सुन्दरकाण्ड की अनेक उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं को निबद्ध किया है। बौद्धों के 'दशरथ जातक' में राम-कथा पूर्ण रूप से विद्यमान है,

जिसमें राम पंडित बुद्ध के पूर्वकालीन माने गये हैं। जातकों का समय ईसा से ३०० वर्ष पूर्व माना जाता है। अतः यह सिद्ध है कि रामायण इससे पूर्व ही सातों काण्डों में रची जा चुकी थी और बौद्ध तथा जैन उसे न केवल राम-कथा के रूप में ही जानते थे अपितु सातों काण्डों के रूप में भी परिचित थे।

विंटरनिट्ज़ ने बौद्ध ग्रन्थों तथा रामायण का पूर्वापर सम्बन्ध स्थापित करने वाले पाश्चात्य विद्वानों के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है कि डेविड महोदय ने बौद्ध ग्रन्थों तथा रामायण का आविर्भाव भारत के पूर्वीय प्रदेश में माना है। परन्तु उनका मत है कि रामायण का निर्माण बौद्धों के 'दशरथ जातक' के उपरांत हुआ होगा क्योंकि 'दशरथ जातक' में दशरथ की मृत्यु का संदेश भरत द्वारा लाया जाना, राम तथा सीता का तर्पण करना, राम का भरत को समझना, राम का १०००० वर्ष तक राज्य करना आदि वर्णित है। इस प्रकार पुरानी बौद्ध गाथाओं में केवल एक ही राम कथा का आना तथा उस कथा में भी बहुत से दैत्यों अथवा राक्षसों के वर्णन के रहते हुए भी रावण राक्षस तथा बानरों का वर्णन न रहने के कारण यह प्रतीत होता है कि ईसा से तीन-चार शताब्दि पूर्व जब त्रिपिटक साहित्य बना था उस समय तक रामायण काव्य रूप में प्रस्तुत नहीं हुई थी केवल राम की कथा मौखिक रूप में ही विद्यमान थी। परंतु 'दशरथजातक' में उत्तरकाण्ड के एक श्लोक का पाली रूपान्तर रहना तथा रामायण में बौद्धों के बारे में तनिक भी संकेत न रहने के कारण यह सिद्ध होता है कि रामायण जातककथा का आधार है तथा रामयण का निर्माण जातकों के पूर्व ही होचुका था। रामायण में एक स्थल पर 'बुद्ध' शब्द अवश्य आया है, परन्तु वह दूसरे अर्थ में है और प्रक्षिप्त है।

डेविड की भाँति वेबर का भी यही कथन है कि रामायण का आधार बौद्ध साहित्य की एक रामकथा है। परन्तु उसका भी यह कथन असत्य प्रतीत होता है। कारण यह है कि बौद्धों के प्रारम्भिक तथा प्रामाणिक ग्रन्थ राम की उदारता, शील-सम्पन्नता तथा नम्रता की बड़ी

प्रशंसा करते हैं और उन्हें एक वीर नायक तथा सत्य पुरुष भी मानते हैं, जो रामायण का प्रभाव स्पष्ट घोषित करते हैं। फिर भी इतना कहा जा सकता है। कि बौद्ध लोग अपने विकास के आरम्भिक काल में रामायण माहाकाव्य को भले ही न जानते हों और यदि न भी जानते हों तो ब्राह्मण-धर्म के विरोधी होने के कारण राम का यथार्थ वर्णन न किया हो अथवा अपनी उदासीनता दिखाई हो। परन्तु इतना निश्चित है कि रामायण पहले ही बन चुकी थी। कुछ विद्वान छन्दों के आधार पर रामायण को बौद्ध ग्रन्थों से बाद की रचना मानते हैं। किंतु यह मत निरर्गल है। वैसे भाषा की दृष्टि से जेकोबी ने ही रामयण को बौद्धों से प्राचीन सिद्ध किया है। उसका मत है कि अशोक-काल में संस्कृत का प्रयोग न होकर पाली भाषा का ही अधिक प्रचलन था। उस समय संस्कृत बोलचाल की भाषा नहीं रह गई थी। केवल साहित्य की ही भाषा मानी जाती थी। अश्वघोष आदि बौद्धों ने इसीलिए अपने काव्य संस्कृत में रचे थे। इससे रामायण की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है।

महाभारत के रचयिता, जिनका कि समय ४०० ई० पू० माना जाता है, वे राम कथा से नहीं अपितु बाल्मीकि तथा उनके महाकाव्य रामायण से भी भली भाँति परिचित थे, इसी कारण वनपर्व में रामोपाख्यान तथा हरिवंश में राम कथा का निर्देश है; परन्तु रामायण में कहीं भी महाभारत के पात्रों का उल्लेख नहीं मिलता। रामचन्द्रजी से सम्बन्धित स्थानों को महाभारत में तीर्थ-स्थान माना गया है, जैसे शृङ्गवेरपुर तथा गोप्रतार स्थानों का उल्लेख तीर्थ के रूप में ही महाभारत में आया है। इससे रामायण की प्राचीनता सिद्ध होती है।

अन्तर्साक्ष्य—उपर्युक्त बाह्यसाक्ष्यों के अतिरिक्त अन्तर्साक्ष्यों पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि पाटलिपुत्र नगर की स्थापना ५०० ई० पू० मगध नरेश अजातशत्रु ने की थी। बौद्ध ग्रन्थों में उसका नाम "पाटलिग्राम" दिया गया है। यह नगर अजातशत्रु ने गंगा और

शोण के संगम पर बनवाया था। रामायण में राम गंगा और शोण के संगम पर होकर बन को जाते हैं, परन्तु पाटलिपुत्र का उल्लेख नहीं मिलता। अतः रामयण का ५०० वर्ष ई० पू० बनना सिद्ध होता है।

दूसरे, कोशल जनपद की राजधानी रामायण में अयोध्या बतलाई गई है। यद्यपि बौद्ध-ग्रन्थों में वह साकेत के नाम से प्रख्यात है। लव ने अपनी राजधानी श्रावस्ती में बसाई थी। अतः रामायण की रचना उस समय होगई होगी जब कि कोशल प्रदेश की राजधानी श्रावस्ती न होकर अयोध्या ही रही। श्रावस्ती के राजधानी बनने का उल्लेख आगे भी मिलता है कि कोशल-नरेश प्रसेनजित श्रावस्ती में ही राज्य करते थे। अतः रामयण प्राचीन है।

तीसरे, रामायण में विशाला तथा मिथिला दो स्वतन्त्र राज्यों का उल्लेख मिलता है। विशाला की स्थापना इक्ष्वाकुपुत्र विशाल ने की थी और मिथिला के राजा जनक सीताजी के पिता थे। परन्तु बौद्धों के समय में ये दोनों राज्य बैशाली के रूप में सम्मिलित कर दिये गये थे और गणतन्त्र-शासन-प्रणाली प्रचलित होगई थी। अतः रामायण का बौद्धों से पहले बनना सिद्ध होता है।

चौथे, भारतवर्ष का दक्षिण भाग रामायण में एक भयानक जंगली लोगों के निवास-स्थान के रूप में वर्णन किया गया है। यहाँ ऋक्ष-वानर आदि असभ्य एवं अर्धसभ्य जातियाँ रहा करती थीं। आर्य सभ्यता के फैलने से पूर्व दक्षिण भारत की यही दशा थी अतः दक्षिण में आर्य सभ्यता के विकास से पूर्व ही रामायण बन चुकी थी।

पाँचवे, रामायण के बालकाण्ड के अनुसार यह सिद्ध होता है कि उत्तरी भारत में आर्य जातियों के कोशल, अंग, कान्यकुब्ज, मगध, मिथिला आदि अनेक छोटे-छोटे राज्य थे। यह राजनीतिक स्थिति बुद्ध भगवान के पूर्व की ही है। अतः बौद्धों से पहले रामायण रची जा चुकी थी।

छठे, प्रोफेसर सिलवेन लेवी ने इस विषय का गहरा अध्ययन किया है। उनका कथन है कि बौद्ध ग्रन्थ "सद्धर्मस्मृत्युत्थान" निस्संदेह

बाल्मीकि का ऋणी है। उक्त ग्रन्थ का जम्बूद्वीप वर्णन रामायण के दिग्वर्णन से पूर्णतः मिलता है । इसके अलावा इस ग्रन्थ में नदियों, समुद्रों, देशों और द्वीपों का उल्लेख भी बिलकुल उसी शैली में किया गया है जिस शैली में रामायण के अन्तर्गत मिलता है ।

अन्त में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रामायण की रचना बौद्धों के पहले ही यहाँ हो चुकी थी और उसका रचना काल ५०० ई० पू० के लगभग माना जासकता है। प्रो० बेवर ने रामायण में दो स्थानों पर आये हुए 'यवन' शब्द के आधार पर रामायण पर यूनानियों का प्रभाव सिद्ध किया है और उसे बाद की रचना ठहराया है; परन्तु प्रो० जैकोबी ने इस निश्चय में संदेह की कोई गुन्जायश नहीं छोड़ी है कि जिन दो श्लोकों में यवन शब्द आया है वे दोनों ही ३०० ई० के बाद की रचना हैं। यदि बाल्मीकि बुद्ध के बाद होते तो वे इस प्रकार सर्व प्रिय ऐतिहासिक महाकाव्य को प्राकृत में लिखते । अतः यह निर्वि-वाद सिद्ध हैं कि रामायण की रचना बुद्धजी से पहले ही हुई थी और उसका रचना-काल ५०० ई० पू० के लगभग है।

प्रश्न १२—महाभारत के रचना-काल तथा वर्ण्य विषय के बारे में की समीक्षा कीजिए।

उत्तर—महाभारत के महत्व के विषय में भारतीय दृष्टिकोण यह है कि महाभारत चारों पदार्थों का देने वाला, सम्पूर्ण कार्यों का साधक तथा कोकिल के मधुर गान की तरह पूर्णतया तापनाशक है। इसके विजयगान जीवन में विजय लाभ प्राप्त कराते हैं और यह भारतीय संस्कृति का अत्यन्त भव्यरूप उपस्थित करता है। शान्तिमय जीवन बिताने के लिए प्रेरणा देने वाला यह महाकाव्य जीवन की समस्त जटिल समस्याओं को सुलझाने वाला है। इसे पंचम वेद के नाम से भी अभि-हित किया गया है। यह नवनीत के सदृश्य अत्यन्त श्रेष्ठ माना गया है तथा उत्तरकालीन ऐतिहासिक काव्य का जन्मदाता एवं मूलाधार है।

इसके उपाख्यान तत्कालीन सामाजिक जीवन के आचार-विचारों का स्पष्ट रूप उपस्थित करते हैं और इसके अन्तर्गत आई हुई विदुरनीति लोक व्यवहार के आदर्श नियम प्रस्तुत करती है। साथ ही राजनीति का अत्यन्त विशद् रूप इसमें विद्यमान है। इसमें ठीक ही कहा गया है :—

"अर्थे धर्मे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभः।
यदि हास्ति तदन्यत्र यन्नेदास्ति न तद्क्वचित्॥"

परन्तु पाश्चात्य विद्वानों की राय में यह किसी इतिहास-कला से अनभिज्ञ साहित्यिक व्यक्ति द्वारा असंबद्ध घटनाओं का सङ्कलनमात्र है। वे लोग न तो इसे काव्यकला की दृष्टि से ही ठीक समझते हैं और न इतिहास की दृष्टि से ही इसका महत्व स्वीकार करते हैं। परन्तु इतना तो अवश्य ही मानते हैं कि इसमें वर्णित कौरव एवं पांडवों का युद्ध एक ऐतिहासिक सत्य है। कुछ भी हो, भले ही पाश्चात्य विद्वान इसे महत्व न दें और रामायण की भाँति यह सर्वप्रिय न हो, परन्तु इसके द्वारा हमें तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों का अवश्य पता चल जाता है। इसका महत्व इसलिए भी है कि इससे हमें केवल शान्ति-विद्या की ही नहीं, रण-विद्या की भी बहुत सी बातें ज्ञात होजाती हैं और इसके उपदेशपूर्ण अंश ने तो अपने प्रचलित उच्च प्रमाणों द्वारा इस ग्रन्थ का पंचमवेद नाम अन्वर्थ सिद्ध कर दिया है। अतः यह नीति धर्म तथा आचार-विचार की दृष्टि से भारतीय आत्मा का दर्पण है; वैसे यत्र-तत्र कवित्व भी पर्याप्त मात्रा में मिल जाता है।

समस्त वैदिक साहित्य में महाभारत काव्य का कहीं भी नाम नहीं मिलता। यद्यपि ब्राह्मण ग्रंथों एवं उपनिषदों में इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी आदि मिलती हैं जो कुछ परिवर्तित रूप में महाभारत के अन्तर्गत भी विद्यमान हैं, फिर भी उक्त ग्रन्थों में कुरुक्षेत्र की इस ऐतिहासिक प्रमुख घटना का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। ब्राह्मण ग्रंथो में कुरुक्षेत्र का उल्लेख देव-मनुष्यों के उत्सव के लिए आया है। इससे सिद्ध है कि यदि भारत का युद्ध वैदिक काल में हुआ होता तो उसका उल्लेख किसी न किसी वैदिक ग्रंथ में अवश्य होता। परीक्षित पुत्र जनमेजय तथा शकु-

न्तला पुत्र भरत का वर्णन ब्राह्मणों में मिलता है तथा अथर्ववेद के "कुन्ताप-गीतों" में परीक्षित के शान्त विचारों की प्रशंसा का उल्लेख है। यजुर्वेद के ग्रन्थों में यत्रतत्र कुरु-पांचाल तथा विचित्रवीर्य के पुत्र युधिष्ठिर के यज्ञों का वर्णन मिलता है। फिर भी समस्त वैदिक साहित्य में पाण्डु, दुःशासन, युधिष्ठिर, दुर्योधन, कर्ण आदि महाभारत के प्रमुख पात्रों का नाम तक नहीं मिलता। एक ब्राह्मण ग्रन्थ में अर्जुन का नाम अवश्य आया है परन्तु वह इन्द्र का गुप्त नाम है।

महाभारत में वर्णित कुरुक्षेत्र युद्ध का वर्णन सर्व प्रथम सांख्यायन श्रौतसूत्र में मिलता है। आश्वलायन गृह्यसूत्रों में भी भारत या महाभारत का उल्लेख है तथा उसे वेदों के अध्ययन के बाद पठनीय बतलाया है। पाणिनि ने युधिष्ठिर, भीम, विदुर आदि शब्दों की सिद्धि के साथ-साथ महाभारत शब्द के उच्चारण के सम्बन्ध में भी अपनी अष्टाध्यायी में उल्लेख किया है, परन्तु पतंजलि ने सर्व-प्रथम कौरव-पांडवों के युद्ध की ओर निर्देश किया है।

त्रिपिटकों में भी महाभारत का उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु जातक कथाओं में जो 'गाथा' कहलाती हैं उनमें कृष्ण की कथा को विस्मृत कराने का प्रयत्न है। फिर भी 'हरिवंश' तथा महाभारत के "मौसलपर्व' की कहानियों का संकेत इनमें मिलता है। इतना ही नहीं जातकों में पाली भाषा के अन्तर्गत पाण्डव, धनंजय, युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र, विदुर आदि नामों का उल्लेख मिलता है और द्रौपदी, धनंजय तथा विदुर के वर्णन भी आये हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि महाभारत की रचना वैदिककाल के पश्चात् तथा बौद्धों के साहित्य से पूर्व हुई थी। अतः लगभग ४०० ई० पू० यह अवश्य ही विद्यमान था और तभी सूत्र-साहित्य में भी उद्धरण लिये गए। दूसरे जो पाली-साहित्य ३ या ४ शताब्दी ई० पूर्व रचा गया था उसका अधिक परिचय महाभारत से नहीं था। तीसरे, महाभारत की बहुत सी उपादेशात्मक कथायें वैदिक साहित्य से ली गई हैं तथा महाभारत की बहुत सी कथायें जैन तथा

बौद्ध साहित्य में भी पाई जाती हैं। चौथे, भारतवासी कलियुग के प्रारम्भ में महाभारत का युद्ध बतलाते हैं जिसका समय ज्योतिष गणना के अनुसार ३१०२ ई० पूर्व सिद्ध होता है। परन्तु विटंरनिट्ज़ इस गणना को निराधार बतलाते हैं। उनका कथन है कि महाभारत का राजनैतिक इतिहास शिशुनाग वंश के मगधराज बिम्बसार तथा अजातशत्रु से आरम्भ होता है, जिनका वर्णन पुराणों में भी है और जो बुद्धकालीन भी थे। परन्तु चन्द्रगुप्त मौर्य (३२१ ई० पू०) का वर्णन इसमें नहीं मिलता, जहाँ से कि भारतवर्ष का क्रमबद्ध इतिहास प्रारम्भ होता है। अतः महाभारत चन्द्रगुप्त मौर्य से पहले रचा गया होगा। पाँचवे, महाभारत का उल्लेख एक गुप्तकालीन शिलालेख में 'शतसहस्री' के नाम से मिलता है। अतः महाभारत का आधुनिक रूप कम से कम १५०० वर्ष पहले से अवश्य चला आ रहा है। छठे, दह्णमन का एक साक्ष्य मिलता है कि पाणिनि को असली महाभारत का पता था। पाणिनि का समय ४०० ईस्वी पूर्व माना गया है। अतः इससे पहले ही महाभारत का बनना सिद्ध होता है। सातवें, आश्वलायन गृह्यसूत्र तथा बौधायन धर्मसूत्रों में महाभारत का उल्लेख मिलता है और ये सूत्र ५०० व ४०० ई० पू० के लगभग माने जाते हैं। आठवें, मेगस्थनीज ने अपने ग्रन्थ "इंडीका" (भारत) में लिखा है कि कुछ कहानियाँ ऐसी हैं जो केवल महाभारत में पाई जाती हैं। नवें, महाभारत में ब्रह्मा को सब से बड़ा देव कहा है। पाली-साहित्य के आधार पर यह बात पाँचवी शताब्दी से पूर्व की अवस्थाओं को घोषित करती है। दसवें, पाणिनीय सूत्रों में भारत का उल्लेख है और ये सूत्र ईसा से ४ शताब्दी पूर्व लिखे गये थे। अतः सभी अन्तर्बाह्य साक्ष्यों के आधार पर प्राचीन महाभारत का समय ८०० से ६०० ई० पूर्व के लगभग ठहरता है।

महाभारत के वर्ण्य-विषय में उसी काल से बराबर प्रक्षिप्त अंश मिलते हैं। उसके क्रमिक विकास के तीन रूप मिलते हैं। पहले यह "जय" कहलाता था, उसके उपरान्त केवल "भारत" कहलाने लगा और बाद में "महाभारत" नाम पड़ा। इसका मूल रूप "जय" नाम से

ही प्रसिद्ध था, जैसा कि महाभारत के इस श्लोक से स्पष्ट प्रतीत होता है—

"नारायणं नमस्कृत्य नरञ्चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥"

उस समय इसमें कुछ भी उपाख्यान नहीं थे। केवल कौरव-पांडवों के युद्ध का ही विस्तृत वर्णन था। मैकडानल के कथनानुसार असल महाभारत में कदाचित् ८८०० श्लोक ही थे। इसके विकास की तीन विशिष्ट दिशाओं की ओर निम्नलिखित श्लोक में भी प्रकाश डाला गया है। आदिपर्व में आया है:—

"मन्वादि भारतं केचिदस्तिकादि तथापरे।
तथा परिचराद्यन्ये विप्राः सम्यगधीयते॥"

अर्थात् कुछ विद्वान् महाभारत का प्रारम्भ मनु उपाख्यान से, कुछ अस्तिक उपाख्यान से और कुछ परिचर उपाख्यान से मानते हैं।

उक्त तीनों कालों में से प्रथम मनु के उपाख्यान से सम्भवतः "जय" का प्रारंभ हुआ। परन्तु दूसरे "भारत" का प्रारम्भ सम्भवतः अस्तिक उपाख्यान से हुआ और इस काल में आकर श्लोकों की संख्या कदाचित् २४००० के लगभग होगई। यह ग्रंथ वैशम्पायन ने सर्प सूत्र में जनमेजय को पढ़ाया था। तीसरे काल में आकर इसका प्रारम्भ परिचर उपाख्यान से हुआ और इससे श्लोकों की संख्या एक लाख होगई। इस समय यह विस्तृत ग्रंथ सौति ने शौनक को सुनाया। इस ग्रंथ में आकर पर्याप्त प्रक्षिप्त अंश सम्मिलित होगये। अतः महाभारत न तो एक काल की रचना है और न किसी एक कवि द्वारा ही रचा गया है।

इसमें मुख्य कथा १८ पर्वों में विभक्त है तथा अन्त में "हरिवंश पुराण" परिशिष्ट के रूपमें सम्मिलित है। यह १८ पर्वों वाला महाभारत भी अत्यन्त प्राचीन है, क्योंकि आश्वलायन गृह्यसूत्रों में महाभारत तथा हरिवंश दोनों का उल्लेख मिलता है। साथ ही बोधायन सूत्र में तो विष्णुसहस्रनाम की परिपाटी का स्पष्ट अनुकरण है। इसके १८ पर्वों

के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) आदि (२) सभा (३) वन (४) विराट् (६) भीष्म (७) द्रोण (८) कर्ण (६) शल्य (१०) सौप्तिक (११) स्त्री (१२) शान्ति (१३) अनुशास (१४) अश्वमेध (१५) आश्रमवासी (१६) मौसल (१७) महाप्रस्थानिक (१८) स्वर्गारोहण । इस प्रकार आदि पर्व से स्वर्गारोहण पर्व तक कौरव-पाण्डवों के शैशव से लेकर अन्त में परीक्षित पर प्रजा-पालन का भार डालकर पाण्डवों के स्वर्गारोहण तक का वर्णन है । 'हरिवंश' में १६ हजार श्लोक हैं और महाभारत के पूर्व भाग में ६५८२६ श्लोक हैं । इस प्रकार कुल एक लाख श्लोक महाभारत तथा हरिवंश दोनों को मिला कर हैं । "हरिवंश" तीन भागों में विभक्त है । प्रथम में श्रीकृष्ण के पूर्वजों का, दूसरे में श्रीकृष्ण के पराक्रमों का और तीसरे में कलियुग की आगामी बुराइयों का वर्णन है ।

महाभारत में मुख्य कथा के अतिरिक्त कुछ उपख्यान भी आये हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) शकुन्तुलोपाख्यान (२) मत्स्योपाख्यान (३) रामोपाख्यान (४) शिवि उपाख्यान (५) सावित्री उपाख्यान (६) नलोपाख्यान । इनमें से पहला उपाख्यान तो आदिपर्व में आया है, शेष सभी उपाख्यान वनपर्व में मिलते हैं ।

उपर्युक्त उपाख्यानों के अतिरिक्त कुछ पौराणिक गाथायें भी मिलती हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) जनमेजय के नागयज्ञ की कथा (२) समुद्र मंथन की कथा (३) कद्रू वनिता की कथा (४) च्यवन ऋषि तथा सुकन्या की कथा, (५) इन्द्र-वृत्रासुर की कथा । इन पौराणिक कथाओं के बारे में विंटरनिट्ज़ का मत है कि ब्राह्मणों ने अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए ये गाथायें गढ़ली थीं । इन गाथाओं के अलावा कुछ ख्यातियाँ भी मिलती हैं जो निम्नलिखित हैं :—

(१) मनु-प्रलय कथा (२) अग्निकींप्रणाय कथा (३) मृत्युकथा (४) ऋषिशृङ्ग का आख्यान (५)अगस्त्य की कथा (६) विश्वामित्र तथा वशिष्ट के संघर्ष की कथा, (७) आरुणि की कथा तथा (८) नचिकेता की

कथा। इन ख्यातियों का उद्देश्य ब्राह्मणों का क्षत्रियों पर प्रभुत्व स्थापित करना था।

इस प्रकार समस्त महाभारत ऐतिहासिक उपाख्यानों, कथाओं एवं ख्यातियों से परिपूर्ण है। इसमें उपदेशात्मक कथाओं की भरमार है तथा राजनीति के दाव-पेच भी कथाओं द्वारा सरल ढङ्ग से समझाये गये हैं। धर्म, नीति तथा उपदेश पूर्ण दृष्टान्तों का बाहुल्य है। यह सारा काव्य कुछ उपजाति और वंशस्थ छंदों में तथा अधिकांश श्लोक छंद में लिखा गया है। पुरानी गद्य में भी कुछ कहानियाँ हैं। इसके अतिरिक्त प्रवेशक वाक्य अधिक हैं, जैसे कृष्ण उवाच, भीष्म उवाच आदि। सारे ग्रन्थ में धर्म का जो स्थूल रूप अङ्कित है, उसका सार नीचे लिखे श्लोक में आगया है :—

यास्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिन् तथा वर्तितव्यं सधर्मः।
मायाचारो मायया बाधितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥

अर्थात् असली धर्म यही है कि जैसे के साथ वैसा बना जाय। कपटी को कपट से खत्म करो और सीधे के साथ सीधाई का वर्त्ताव करो।

———

प्रश्न १३—रामायण तथा महाभारत की रचना काल तथा वर्ण्य विषयों की दृष्टि से तुलनात्मक समीक्षा कीजिये।

उत्तर—रामायण तथा महाभारत की कथावस्तु पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि रामायण आदि महाकाव्य है तथा महाभारत इतिहास है। रामायण में कथावस्तु की अपेक्षा काव्य चमत्कार अधिक मात्रा में विद्यमान है और उसमें एक ही राम का चरित्र तथा राम-रावण के युद्ध की घटना ही सब प्रकार से प्रमुख है। किन्तु महाभारत में कुछ अंशों को छोड़कर काव्यत्व नहीं के बराबर है। इसकी प्रधान-कथा में युद्धों के वर्णन के साथ-साथ तत्कालीन राजाओं के इत्तिवृत्तों का वर्णन विशेष रूप से मिलता है। इसमें प्राचीनकाल की अनेक अवा-

न्तर कथायें मुख्य कथा की घटना से विशेष सम्बद्ध न होकर अपना पृथक् अस्तित्व भी रखती हैं और वे अत्यधिक संख्या में विद्यमान हैं।

इन दोनों काव्यों का भौगोलिक विस्तार भी भिन्न है। रामायण के भारत की दक्षिणी सीमा विंध्य और दण्डकवन तक थी, पूर्वी सीमा विदेह राज्य तक थी तथा पश्चिमी सीमा सौराष्ट्र तक थी। परन्तु महाभारत के समय में आर्यावर्त्त का विशेष विस्तार हो गया था। इसकी पूर्वी सीमा गंगासागर संगम तक होगई थी, दक्षिणी सीमा चोल, मलावार प्रान्त तक थी। इतना ही नहीं लंका तक के राजा भी युधिष्ठर के राजसूय यज्ञ में उपहार लेकर आये थे। अतः लंका तक भारत का विस्तार होगया था।

वैसे वे इन दोनों महाकाव्यों में से रामायण, एक कवि की कोमल एवं भावपूर्ण लेखनी का चमत्कार है। उसकी कविता में सरसता, स्निग्धता, मृदुलता तथा शब्द एवं अर्थ की मंजुलता का सामंजस्य है। यहाँ एक ही कवि के उद्गार हैं। परन्तु महाभारत में अपने 'जय' से 'महाभारत' तक के रूप-निर्माण में कितने ही लेखकों का योग रहा है। रामायण के लिखने की चर्चा कहीं भी नहीं है। केवल लवकुश द्वारा गाये जाने का ही वर्णन मिलता है। परन्तु महाभारत के लिपि बद्ध करने की कथा प्रसिद्ध है इसे गणेशजी ने लिपिबद्ध किया था। इसमें काव्य-सौंदर्य की अपेक्षा इतिवृत्तात्मकता का ही प्राधान्य है और वर्णनात्मक शैली अधिक अपनायी गई है। सच्चे अर्थों में महाभारत काव्य की अपेक्षा कविता बद्ध इतिहास ग्रंथ है।

रचनाकाल की दृष्टि से दोनों महाकाव्यों में कौन प्राचीन है, इस विषय पर पर्याप्त मतभेद मिलता है। इस विषय में डाक्टर वेबर का कथन है कि रामायण में सुन्दर पद विन्यास तथा सुबोध रचना मिलती है, जो महाभारत की अपेक्षा उसे अर्वाचीन सिद्ध करती है। इनकी दृष्टि में रामायण से महाभारत प्राचीन है, परन्तु भारतीय विचार-धारा इसके सर्वथा विपरीत है। क्योंकि बाल्मीकि आदि कवि माने जाते हैं और व्यास उनके पश्चात् हुए हैं। युग की दृष्टि से भी बाल्मीकि त्रेत-युग के

कवि हैं क्योंकि उन्होंने त्रेतायुग में होने वाले श्रीरामचन्द्र की गुण-गाथा का वर्णन किया है और व्यासजी द्वापर युग के कवि हैं क्योंकि उन्होंने द्वापर युग में होने वाले भगवान श्रीकृष्ण का वर्णन किया है। विष्णु अवतारों में राम के पश्चात् ही कृष्ण का अवतार माना गया है। अतः रामायण ही प्राचीन सिद्ध होती है।

डा० वेबर के उपर्युक्त मत के अतिरिक्त विंटरनिट्ज का कथन है कि मूल रामायण अर्थात् द्वितीय कांड से पंचम कांड तक राम को विष्णु का अवतार नहीं माना गया है, अपितु वे एक श्रेष्ठ मानव हैं। साथ ही अवतारवाद का सिद्धान्त कृष्ण के युग से ही चला है। अतः राम यदि विष्णु के अवतार ही हैं तो वे कृष्ण के बाद में ही हुए होंगे। बात यह है कि पाणिनी तथा पंतजलि ने अर्जुन, युधिष्ठिर तथा महाभारत का उल्लेख किया है, परन्तु राम का नहीं। अतः यह सिद्ध है कि रामायण महाभारत के बाद बनी है।

प्रो० जैकोबी का मत है कि रामायण ही महाभारत से प्राचीन है। और महाभारत की रचना रामायण के आधार पर ही हुई है, परन्तु विंटरनिट्ज ने इसके विरुद्ध कई प्रमाण दिये हैं। उनका कहना है कि रामायण में महाभारत की अपेक्षा काव्यांगों का अधिक वर्णन है, जिसमें कि कालिदास जैसी काव्य छटा विद्यमान है। अतः वह महाभारत की अपेक्षा अर्वाचीन है। महाभारत में प्रचीनता के द्योतक "उवाच" आदि गद्य वाक्य मिलते हैं, जबकि रामायण में इसका नाम नहीं है। रामायण में दर्बारी शैली अधिक मिलती है। महाभारत के वर्णन में सर्वत्र क्षत्रियत्व का आभास मिलता है। कुन्ती, द्रौपती आदि सभी नारियाँ वीर क्षत्राणी हैं। उनकी भी वीरउक्तियाँ दर्पपूर्ण हैं। वे अपमान सहना नहीं जानतीं। दुर्योधन का द्रौपदी के प्रति दुर्व्यवहार ही युद्ध का कारण बन जाता है। कीचक तथा जयद्रथ बध भी इसी कारण हुए। जब कि रामायण में रावण सीता के साथ दुर्व्यवहार करता है, सीता से दुर्वचन भी बोलता है, परन्तु सीता एक अत्यन्त सभ्य हिन्दू स्त्री की भाँति चुप रह जाती है। कौशिल्या, कैकेयी

आदि का भी यही हाल है। महाभारत का युद्ध उसके लेखक ने स्वयं देखा प्रतीत होता है। जब कि बाल्मीकि सुनी-सुनाई कथा को ही कहते हैं। राम-रावण युद्ध में संवादों अथवा कार्य-व्यापारों में उतनी उत्तेजना नहीं दिखाई देती जितनी कि कर्ण, अर्जुन आदि के युद्ध में है। इन सभी बातों से स्पष्ट है कि महाभारत का निर्माण सभ्यता के विकास के आरम्भिक काल में हुआ था तथा रामायण सभ्यता के पूर्ण विकसित काल की रचना है। अर्थात् रामायण महाभारत की अपेक्षा पीछे रची गई है।

इस संबंध में एक बात और उल्लेखनीय है कि महाभारत पर प्राचीन पश्चिमी भारत का तथा रामायण पर पूर्ण विकसित पूर्वीय भारत का प्रभाव दिखाई देता है। अतः काल-भेद न होकर सम्भवतः स्थान-भेद ही है। इसी कारण जैकोबी का यह कहना है कि महाभारत रामायण के आधार पर है असंगत है, क्योंकि महाभारत में पश्चिमी लोगों ने भाग लिया था और रामायण में मुख्य घटना कोशल में घटी जहाँ पर कि बाल्मीकि मुनि का भी निवास स्थान था।

परन्तु विंटरनिट्ज़ के विरुद्ध भी यह कहा जा सकता है कि महाभारत के पात्रों में तथा घटनाओं में व्यावहारिकता अधिक है। द्यूत तथा राज्य-लाभ के कारण युद्ध आदि घटनायें व्यावहारिकता एवं विश्वास के क्षेत्र से दूर नहीं, जबकि रामायण में पत्थरों में तैरते हुए पुल से सेना, रीछ-वानरों की सहायता से विजय प्राप्त करना, रावण दस सिर होना आदि कुछ ऐसी घटनायें हैं जो मानव-संस्कृति की उस प्राथमिक अवस्था की ओर संकेत करती हैं जबकि ऐसी घटनाओं में विश्वास करना स्वाभाविक था।

रामायण में आर्य-सभ्यता अपने विशुद्ध रूप में चित्रित है, उसमें उन म्लेच्छों का तनिक भी सम्पर्क नहीं दिखाई देता जो एक भिन्न संस्कृति के अनुयायी थे। परन्तु महाभारत में लाक्षागृह के निर्माता पुरोचन का नाम आया है, जो म्लेच्छ था। साथ ही कौरव तथा पाण्डवों के युद्ध में दोनों ही ओर से अनेक म्लेच्छ राजाओं ने भाग

लिया था। उस समय लोग म्लेच्छ भाषा भी जानने लगे थे। विदुर ने इसी म्लेच्छ भाषा में युधिष्ठिर को संकेत रूपसे लाक्षागृहकी सूचनादी थी।

भौगोलिक दृष्टि से तो महाभारत का रामायण के पश्चात् होना ही सिद्ध होता है। रामायण में दक्षिण भारत केवल जंगली रिक्ष-वानर जातियों का निवास स्थान था। आर्य सभ्यता केवल विंध्याचल पर्वत तक ही सीमित थी, परन्तु महाभारत में यह राजनीतिक दृष्टि से पर्याप्त व्यवस्थित होचुका था तथा दक्षिण के राजा लोग राजसूय यज्ञ में उपहार लेकर भी आये थे।

रामायण की अपेक्षा महाभारत में युद्ध कला की भी पर्याप्त उन्नति होगई थी। सीता-स्वयंवर में एक धनुष का तोड़ देना ही वीरत्व का परिचायक था, परन्तु महाभारत में द्रौपदी-स्वयंवर के अन्तर्गत मछली की परछाँई देखकर उसका लक्ष्य भेद करना एक विशेष कौशल का द्योतक है। रामायण में लोग ईंट, पत्थर, वृक्ष आदि से ही लड़ते थे, परन्तु महाभारत में सेनापतियों की देखरेख में विविध शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित व्यूह रचना आदि का वर्णन है अतः महाभारत पश्चात् की रचना दिखाई देती है।

रामायण का समाज आदर्शवादी है। पिता, पुत्र, भ्राता, मित्र आदि सभी आदर्शवाद के पोषक हैं। परन्तु यह आदर्श महाभारत में दिखाई नहीं देता, भीम अपने बड़े भाई की आज्ञा मानने को तैयार नहीं। यहाँ पर विजय तथा राज्य-लाभ के लिए चोरी एवं असत्य भाषण में भी कोई पाप नहीं। अतः महाभारत की रचना रामायण से पीछे ही दिखाई देती है।

रामायण की नैतिक भावना का स्तर महाभारत की अपेक्षा ऊँचा है। परन्तु महाभारत में उस भावना का पर्याप्त ह्रास हो गया है। सीताजी को हनुमान अपनी पीठ पर लाने का प्रस्ताव करते हैं, परन्तु सीताजी पर-पुरुष के स्पर्श के दोष के कारण उसे स्वीकार नहीं करतीं। चरित्र की शुद्धता के लिए ही अग्नि-परीक्षा भी होती है, परन्तु द्रौपदी

६

काम्यक वन में जयद्रथ द्वारा हरण करली जाती है, उससे पुनर्ग्रहण में कोई विरोध खड़ा नहीं होता। अतः उक्त भावना के आधार पर भी रामायण प्राचीन सिद्ध होती है।

साथ ही महाभारत में रामोपाख्यान आया है, जबकि रामायण में महाभारत की कथा का उल्लेख नहीं मिलता। इससे भी रामायण की प्राचीनता सिद्ध होती है। भले ही विंटरनिट्ज़ महोदय महाभारत के रामोपाख्यान को प्रक्षिप्त स्वीकार करें, परन्तु भारतीय युग विभाजन तथा भारतीय धार्मिक विश्वास के कारण भी रामायण की रचना महाभारत से पूर्व सिद्ध होती है।

इसके अतिरिक्त दोनों महाकाव्यों में कोशल तथा विदेह एवं पंजाब के रीति-रिवाजों का वर्णन समान रूप से मिलता है। शैली भी लगभग एक सी ही है। हौपकिन्स ने लगभग ३०० स्थल ऐसे खोज निकाले हैं जो प्रायः एकसे हैं दोनों में उपमायें तथा युद्ध वर्णन भी लगभग एकसे हैं। दोनों में सीता तथा द्रौपदी की जन्म-कथा में अलौकिकता विद्यमान है। दोनों का विवाह स्वयंवर की रीति से हुआ है, किन्तु वर का चुनाव दोनों में से किसी की इच्छा से नहीं हुआ। दोनों के स्वयंवरों में शारीरिक शक्ति ही वर का सर्वोच्च गुण मानी गई है। दोनों में नायकों को वनवास होता है तथा दोनों में नायिकाओं का खलनायकों द्वारा अपहरण होता है। साथ ही दोनों में अधिकांश वैदिककालीन कथायें भी आई हैं। इस प्रकार दोनों में पर्याप्त साम्य दिखाई देता है।

परन्तु इतने साम्य एवं वैषम्य के उपरांत भी यही निष्कर्ष निकलता है कि महाभारत रामायण के पश्चात् ही लिखा गया होगा। दोनों के प्रक्षिप्त अंशों ने आज दोनों के मूल-रूपों में पर्याप्त मात्रा में विकृत कर दिया है। इसी कारण उनका काल-निर्णय करना सर्वथा कठिन दिखाई देता है। परन्तु आदि कवि बाल्मीकि तथा व्यास एवं राम तथा कृष्ण के काल-क्रम में भारतीय विद्वान को कोई भ्रान्ति नहीं। यही कारण है कि महाभारत की रचना लगभग ४०० या ५०० ई० पू० मानी जाती है और रामायण की रचना ५०० या ६०० ई० पू० सिद्ध होती है।

अध्याय—५

पुराण-काल

प्रश्न १४—भारत के प्राचीन साहित्य में पुराणों का स्थान क्या है, इसकी सम्यक् विवेचना कीजिए।

उत्तर—भारतीय साहित्य में रचना-काल तथा वर्ण्य-विषय की दृष्टि से पुराणों का स्थान निर्धारित करना अत्यन्त कठिन है। वास्तव में इनका स्थान इतिहास में जितना महत्वपूर्ण है उससे कहीं बढ़कर धार्मिक साहित्य में है क्योंकि वैदिक साहित्य के उपरान्त हिन्दू धर्म को जिन ग्रन्थों ने सर्वाधिक प्रभावित किया है उनमें पुराणों का ही प्रथम स्थान है। इन पुराणों में सर्वत्र शिव तथा विष्णु की महिमा ही गाई गई है। अतः वैदिक काल के उपरान्त का भारत इन दोनों देवताओं अथवा इनके वर्ग के देवताओं का ही क्रीड़ा-क्षेत्र बन गया है। प्राचीनता की दृष्टि से तो पुराणों के आख्यान वैदिककाल की कथाओं एवं कहानियों को ही लिए हुए हैं। वेद-मंत्रों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में आये हुए उपाख्यान कुछ परिवर्तित एवं परिवर्धित रूप में विद्यमान हैं।

पुराण शब्द अथर्ववेद और ब्राह्मणों में सृष्टि-मीमांसा के अर्थ में आया है। महाभारत में इसका प्रयोग "पुराणमाख्यानम्" कहकर प्राचीन आख्यान के अर्थ में हुआ है। असली पुराण की उत्पत्ति का पता वायु, ब्रह्मांड और विष्णुपुराण से लगता है। कहा जाता है कि व्यास ने चारों वेद अपने शिष्यों को सौंपे थे। बाद में उन्होंने आख्यायिकाओं, कहानियों, गीतों और परंपराप्राप्त जनश्रुतियों को लेकर एक पुराण की रचना की और इतिहास के साथ उसे अपने पाँचवें शिष्य लोमहर्षण को पढ़ाया। इसके उपरान्त उन्होंने महाभारत की रचना की। यहाँ हमारा प्रयोजन

केवल इतना ही है कि पुराने समय में नाना प्रकार की परम्पराप्राप्त कथायें लोक में प्रचलित थीं, जो स्वभावतः पुराणों की रचना में काम लाई गई। यह बात बिल्कुल स्वाभाविक प्रतीत होती है कि जब धार्मिक मन्त्रों का संग्रह वेद-संहिताओं के रूप में होचुका था, तब पुरानी लोकाचार सम्बन्धी कथायें और कहाँ संगृहीत होती। अतः उन्हें पीछे पुराणों में ही स्थान दिया गया। इस प्रकार पुराने आख्यानों, गाथाओं और कल्पनाओं को लेकर पुराणों की सृष्टि हुई। मत्स्य, विष्णु आदि प्राचीन पुराणों में पुराण का यह लक्षण दिया हुआ है :—

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्॥"

अर्थात् अनुलोम सृष्टि, प्रतिलोम सृष्टि, ऋषि वंशों, मन्वन्तरों तथा राज वंशों का वर्णन करना—ये पाँच बातें ही पुराणों का लक्षण कही जाती हैं। यह श्लोक वस्तुतः आदिम पुराण के ही विषय की ओर संकेत करता है जबकि धार्मिक सिद्धान्त, तीर्थ माहात्म्य, अनेक शाखा-पत्र-युक्त धर्म जैसे अन्य अनेक विषय, पुराणों में सम्मिलित नहीं हो पाये थे। फिर भी सभी पुराणों में उपर्युक्त पाँचों बातें नहीं मिलतीं। किसी में इनसे अधिक तथा किसी में इनसे कम बातें पाई जाती हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों तथा बौद्ध ग्रन्थों में पुराण शब्द प्रायः इतिहास के साथ व्यवहृत हुआ है। इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि पुराणों व इतिहास अथवा पुराणेतिहास नाम के ग्रन्थ पहले उपलब्ध थे। फिर भी अथर्ववेद में जहाँ वेदों के साथ पुराणों का उल्लेख आया है वहाँ अवश्य किसी पुराण नामक ग्रंथ विशेष की ओर संकेत है। पाँचवीं या चौथी ईसवी पूर्व गौतम धर्मसूत्र में पुराणों का ग्रन्थ रूप में होना प्रमाणित होता है। आपस्तम्बीय धर्मसूत्र में भी पुराण नामक मन्त्रों का उल्लेख है। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सूत्र-साहित्य में उल्लिखित पुराण-ग्रन्थ आधुनिक पुराण नहीं हैं, प्रत्युत उन सूत्रों का निर्देश उन मूल पुराणों की ओर है जो अज्ञात एवं अनुपलब्ध हैं तथा जिनके आधार पर इन आधुनिक पुराणों की रचना हुई है।

रचना काल :—पुराणों के रचना-काल का पता चलाने में हमें अन्तर्बाह्य सभी साक्षों का सहारा लेना पड़ेगा। बहिर्साक्ष्य के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि १०३० ई० में अलबरूनी ने १८ पुराणों की सूची दी है तथा विष्णु, वायु, मत्स्य आदि पुराणों के पढ़ने का उल्लेख किया है। उसने बिल्कुल बाद के 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' के पढ़ने के बारे में भी संकेत किया है। अतः लोगों का यह कथन सर्वथा असत्य प्रतीत होता है कि जिन पुराणों में शिव तथा विष्णु के पूजा करने वालों का उल्लेख है वे बिल्कुल बाद के बने हुए हैं।

दूसरे, ईसा की नवीं शताब्दी में स्वामी शंकराचार्य ने अपने भाष्यों में पुराणों के उद्धरण दिये हैं। तीसरे, ८ वीं शताब्दी में कुमारिलभट्ट (७५० ई०) ने पुराणों का उल्लेख किया है। चौथे, ७ वीं शताब्दी में महाकवि बाण (६२० ई०) ने अपनी "कादम्बरी" में पुराणों का उल्लेख किया है। पाँचवें, ४७५ ई० के आस-पास मिले हुए भूदान पत्रों में कुछ पुराणों के श्लोक आये हैं, जिनसे पुराणों के अस्तित्व का पता चलता है। छठे, मत्स्य, वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराण के कथनानुसार भविष्यत पुराण लगभग तीसरी शताब्दी के आसपास रचा गया जान पड़ता है। इसके साथ ही तीसरी शताब्दी के आपस्तम्बसूत्र में भविष्यत् पुराण का उल्लेख है। सातवें, कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पुराणों का भली प्रकार वर्णन किया गया है। इस अर्थशास्त्र में उन्मादी राजकुमारों को पुराणों के उपदेश ग्रहण करने के लिए कहा गया है तथा पुराण-वेत्ताओं को राज्य में उच्च स्थान देने के लिए लिखा है। यह शास्त्र ३०० ई० पू० रचा गया था। आठवें, गौतम तथा आपस्तम्बसूत्रों में लगभग ५०० ई० पू० पुराणों को प्रमाण मानने का उल्लेख आया है। आपस्तम्बसूत्रों में तो पद्मपुराण के दो श्लोक तथा भविष्यत् पुराण का एक श्लोक उद्धृत है। शांखायन श्रौतसूत्र तथा आश्वलायन सूत्रों में भी पुराणों का उल्लेख है। नवें, शतपथ ब्राह्मण में इतिहास तथा पुराणों के पढ़ने का उल्लेख है। दसवें, छांदोग्य उपनिषद् तथा

बौद्धों के सुत्तनिपात में पुराण का पंचम वेद के रूप में उल्लेख मिलता है। ग्यारहवें, अथर्ववेद में उच्छिष्ट नाम से अभिहित परम पुरुष से चारों वेदों के अनन्तर पुराणों की उत्पत्ति का निर्देश किया है। अतः बहिर्साक्ष्य के आधार पर यह सिद्ध होता है कि पुराणों का अस्तित्व वैदिक काल के अन्तर्गत ही था।

अब तनिक अन्तर्साक्ष्य के आधार पर देखें तो पता चलेगा कि स्मिथ के कथनानुसार पुराणों में कलियुग के राजाओं का वर्णन है। विष्णु पुराण में मौर्यवंश के राजाओं का [३२६-१८५ ई० पू०], मत्स्य-पुराण में आन्ध्र वंश के राजाओं का [जिनका अन्त २२५ ई० के लगभग], वायु पुराण में गुप्तवंशी राजाओं का [३२०-३०० ई० पू०] तथा आभीर, गर्दभ, शक, यवन, तुषार, हूण आदि म्लेच्छ वंशीय राजाओं का वर्णन भी मिलता है। साथ ही इन पुराणों में कलियुग का भी वर्णन आया है जो भविष्यवाणी के रूप में है। परन्तु इसे सत्य मानकर अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों ने कलियुग के इन राजवंशों के वर्णन से मुस्लिम युद्ध का आभास लेकर यह निष्कर्ष निकाला है कि संस्कृत के प्राचीन साहित्य का अन्तिम साहित्य पुराण ही है। मत्स्य पुराण में आंध्रों के पतन के साथ साथ इसके बाद में होने वाले किलकिल के यवन राजाओं का वर्णन मिलता है। इस प्रकार तीसरी शताब्दी तक के राजाओं का पूर्ण विवरण पुराणों में विद्यमान है। इसके अलावा चिन्तामणि विनायक वैद्य भागवतपुराण का काल शंकराचार्य के पश्चात् तथा गीतगोविंद से पहले बतलाते हैं। इस प्रकार ६ वीं शताब्दी के बाद तथा ११६४ ई० से पहले अर्थात् १० वीं शताब्दी ही पुराणों का समय ठहरता है। विष्णु पुराण से आये हुए कलियुग वर्णन के आधार पर उसे चौथी शताब्दी का माना गया है। इसी प्रकार भविष्यत् पुराण को उसमें वर्णित इतिहास सम्बन्धी बातों के आधार पर तीसरी शताब्दी का मानते हैं। वायु पुराण और भी बाद का माना गया है। चिन्तामणि विनायक वैद्य ने वायु पुराण के एक श्लोक के आधार पर उसमें गुप्तशक्ति के ह्रास का वर्णन सिद्ध करके उसे ५०० ई० के बाद की

रचना ठहराया है। इन सभी विवेचनों से इतना तो अवश्य सिद्ध होता है कि ये पुराण गुप्तकाल के बाद के नहीं हैं अर्थात् ईसा की छठी शताब्दी पूर्व से लेकर ७०० ई० तक इनका निर्माण हुआ होगा। इन १३०० वर्षों की अवधि में ही इस लोक-इतिहास का रूप निर्माण हुआ होगा। क्योंकि इन पुराणों में हर्ष और उनके बाद के राजाओं का वर्णन नहीं मिलता। इस प्रकार केवल गुप्तकाल तक पुराणों की रचना समाप्त होगई थी।

वर्ण्य-विषय—प्राचीन साहित्य में "पुराण" शब्द का प्रयोग एक वचन में ही मिलता है। इस शब्द के आधार पर यह तात्पर्य नहीं निकलता कि मूल पुराण एक ही था। एक वचन का प्रयोग प्रायः वेद, श्रुति, स्मृति आदि के लिए भी हुआ है ऐसा ही पुराण के बारे में भी जानना चाहिए। पुराणों के पूर्वापर निर्माण का निश्चय यदि हम महाभारत को मध्यस्थ बनाकर करें तो किसी निश्चत मत पर नहीं पहुँच सकते, क्योंकि कुछ पुराणों का अधिकांश भाग महाभारत से पूर्व ही बन चुका था तथा कुछ निश्चित रूप में ही पीछे बने हैं। परन्तु न सभी पुराण महाभारत से प्राचीन हैं और न सभी इससे नवीन हैं क्योंकि पुराणों की रचना वीरगाथाओं की भाँति क्रम-बद्ध नहीं है। उनमें प्राचीन तथा नवीन दोनों कथाओं का रूप साथ-साथ मिलता है। सभी पुराण जिन स्थलों पर आपस में तथा महाभारत से मिलते-जुलते हैं वे स्थल निश्चित ही किसी एक ही आधार पर लिखे गये हैं। सम्भवतः पुराणों की कथायें भी पहले मौखिक रूप में ही प्रचलित थीं, फिर धीरे धीरे उनका संकलन प्रारंभ हुआ और इतने पुराणों की रचना हो गई। वायु पुराण में एक स्थान पर लिखा है कि पहले केवल ५ पुराण ही थे। किंतु अब तो निम्नलिखित १८ पुराण मिलते हैं—

(१) ब्रह्म (२) विष्णु (३) अग्नि (४) वायु (५) मत्स्य (६) स्कंद (७) कूर्म (८) लिंग (९) भविष्य (१०) पद्म (११) भागवत (१२) ब्रह्मांड

(१३) गरुड़ (१४) मार्कण्डेय (१५) ब्रह्मवैवर्त (१६) वामन (१७) बराह (१८) शिव। इन १८ पुराणों में सब मिलाकर चार लाख से भी अधिक श्लोक हैं, उनमें से किसी एक में सात हज़ार हैं तो दूसरे में इक्यासी हज़ार श्लोक हैं। विष्णु पुराण में, जो सबसे अधिक सुरक्षित समझा जाता है, सात हज़ार से भी कम श्लोक हैं।

पुराणों की कोई एक शैली नहीं है। उनमें से कुछ के अन्दर वर्णाश्रम, ब्राह्मण धर्म, श्राद्ध, व्रत, सांख्य और योग संबंधी वर्णन मिलते हैं तथा कुछ पुराणों में महाभारत काल के राजवंशों तथा गुप्तकालीन राजाओं का इतिहास है। पुराणों का ऐतिहासिक दृष्टि से ही अधिक महत्व है। इनकी ऐतिहासिकता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इनमें वर्णित राजकुलों तथा व्यक्तियों का वर्णन बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में भी मिलता है। अतः सिद्ध है कि प्राचीन पुराण ईसा से पहले ही बने हैं। पुराणों के रचयिता के बारे में हिन्दुओं में विश्वास है कि सभी पुराण व्यास द्वारा कलियुग के प्रारम्भ में बने थे अथवा संकलित किये गये थे। व्यास को विष्णु का अवतार भी विष्णु पुराण में कहा है। उन्होंने लोमहर्षण को पुराण सुनाये तथा लोमहर्षण ने उग्रश्रवा द्वारा इनका प्रचार किया। ये पुराण वेदों के सहायक ग्रन्थ हैं। इनका निर्माण स्त्री शूद्रों तथा अन्त्यजों के लिए हुआ है क्योंकि इन तीनों को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं था। पुराणों से पता चलता है कि पुराणों के पहले कर्त्ता या रक्षक सूत, चारण आदि ही थे। ये लोग देवों तथा राजाओं की वंशावलियाँ रखते थे। सभी पुराणों का वर्णन 'सूत' ही करते थे जो ब्राह्मण न थे। उन्हें वेद से कोई मतलब न था। ये कथावाचक होते थे। इनके अतिरिक्त पुराणों पर पुरोहितों का भी स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

इस प्रकार पुराणों का महत्व धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक तथा भौगोलिक दृष्टि से अत्यधिक माना गया है। धार्मिक दृष्टि से तो इनमें वेद विहित धर्म का अत्यन्त सुबोध भाषा में वर्णन मिलता है क्योंकि मूर्ति पूजा, तथा द्वैत, अद्वैत भावनाओं का पौराणिक

गाथाओं के द्वारा अच्छा उल्लेख किया गया है। दूसरे, शिलालेखों व विदेशियों के यात्रा-वर्णन के आधार पर इनका राजनीतिक महत्व भी कम नहीं दिखाई देता। तीसरे, इनमें तत्कालीन समाज का अत्यन्त सुन्दर एवं भव्य शैली में विस्तृत वर्णन मिलता है। चौथे, इनमें आये हुए तीर्थों के वर्णन से तत्कालीन भौगोलिक स्थिति का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। स्मिथ महोदय ने यह सिद्ध कर दिया है कि मत्स्यपुराण में जिन आंध्र राजाओं के शासन-काल का वर्णन मिलता है वह बिल्कुल ठीक है तथा उसका चित्र भी ठीक है। क्षत्रियों की परम्परागत रूढ़ियों का वर्णन भी ठीक-ठीक इनमें मिल जाता है। साथ ही यशस्वी राजाओं का बड़े सुन्दर ढङ्ग से वर्णन मिलता है।

वेदों और पुराणों में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाई देता है। संस्कार विहीन निम्नजाति के लोगों के लिए ही वेदों के ज्ञान को पुराणों में संगृहीत किया गया है। इस प्रकार पुराणों ने अवाङ्मनसगोचर परमतत्व को सर्वसुलभ बना दिया है। वैदिक धर्म को लोक प्रिय बनाने का श्रेय पुराणों को ही हैं। जिस सूत जाति के द्वारा पुराणों का निर्माण या कथन बतलाया जाता है उसके विषय में पार्जीटर महोदय का मत है कि लोमहर्षण भी सूत जाति के थे और यह सूत जाति ब्राह्मणों तथा क्षत्रिय से उत्पन्न एक संकर जाति थी जो रथकार या सारथि का कार्य करती थी। पुराणों की कभी तो बड़ी प्रशंसा होती रही है और कभी इनकी उपेक्षा भी अत्यधिक हुई है। अब तक पुराणों के बारे में यही समझा जाता रहा है कि इनकी बातें विश्वसनीय नहीं हैं। किन्तु अब धीरे धीरे इनकी घटनाओं के वर्णन में भी विश्वास होता जा रहा है। अतः पुराणों में जिन परम्परानुगत बातों का उल्लेख मिलता है, चाहे वह कितना ही विकृत रूप में क्यों न हो, परंतु ब्राह्मणों के प्राचीन काल का द्योतक है। उनका बड़ा महत्व इसी बात में है कि उनमें वेद-ब्राह्मण सम्बन्धी ब्राह्मणों की रूढ़ि के मुकाबले पर क्षत्रियों की परम्परा-गत रूढ़ियों का भली प्रकार ज्ञान हो सकता है, क्योंकि भारत के प्राचीन राजवंशों का सम्बन्ध दो मूलस्रोतों से बतलाया जाता है—सूर्य तथा

चन्द्र। आशा है जब पुराणों को ऐतिहासिक ग्रन्थ मानकर उनका अधिक मनोयोग के साथ अध्ययन किया जायेगा तब प्राचीन भारत की अनेक उपयोगी बातों का ज्ञान प्राप्त होगा। पुराणों में केवल पुरु, कोशल, मगध, आदि बड़े-बड़े राजाओं अथवा उनके परिवारों का ही विस्तृत विवेचन नहीं है, अपितु उनमें उत्तरकालीन शिशुनागों, नंदों, शुंगों, काण्वों और आंध्रों का भी उल्लेख मिलता है। इस प्रकार भारत के प्राचीन इतिहास का अत्यन्त विस्तृत भाग इन पुराणों में सुरक्षित है, जो भारतीय जीवन की क्रमिक विकास-धारा का अध्ययन करने के लिए अत्यन्त उपादेय है।

अध्याय—६

लौकिक साहित्य काल

प्रश्न १५—"क्या प्राकृत भाषा युग, संस्कृत भाषा युग से पूर्व था"? इस कथन की सम्यक् आलोचना कीजिए।

उत्तर—प्रायः प्राकृत को संस्कृत का जन्मदाता माना जाता है। कुछ विद्वान ऐसे भी हैं जो प्राकृत को एक साधारण बोलचाल की गँवारू भाषा बतलाते हैं तथा संस्कृत को शुद्ध तथा साहित्यिक भाषा बतलाते हुए उसे प्राकृत से पहले सिद्ध करते हैं। परन्तु दोनों में कौन प्रथम है इसका सिद्ध करना सर्वथा कठिन है। जार्ज ग्रियर्सन ने प्राकृत को तीन भागोंमें विभक्त किया है। पहली प्राकृत वह बतलाई है जिससे वैदिक भाषा का विकास हुआ है और जिसकी प्रतिनिधि भाषा आधुनिक संस्कृत है। दूसरी प्राकृत वह है जो पाली के रूप में बौद्ध साहित्य के अन्तर्गत विद्यमान है, साथ ही जिसका स्वरूप प्राकृत के नाटकों, व्याकरणों तथा अन्य साहित्य में मिलता है। तीसरी प्राकृत से उनका अभिप्राय उस भाषा से है जिससे आधुनिक हिन्दी का विकास हुआ है। परन्तु ग्रियर्सन का यह विभाजन प्राकृत के यथार्थ रूप को प्रस्तुत नहीं करता।

प्राकृत भाषा का सर्वप्रथम ज्ञान हमें अशोक के शिलालेखों से होता है। उनमें प्राकृत की लगभग तीन बोलियों का अस्तित्व अशोक काल में सिद्ध होजाता है—(१) पूर्वी बोली (२) उत्तरी पश्चिमी बोली तथा (३) पश्चिमी प्राकृत बोली। पूर्वी बोली अशोक की राजधानी में व्यवहृत होती थी तथा राज्य-भाषा के रूप में प्रचलित थी। दूसरी उत्तरी पश्चिमी बोली में अत्यन्त प्राचीन रूप विद्यमान है, उसमें ऋ के स्थान पर 'र' का प्रयोग मिलता है जैसे 'मिरग' तथा पश्चिमी बोली में ऋ के स्थान पर 'अ' रूप मिलता है जैसे मृग के लिए 'मगो' अर्थ के लिए अत्थ और पूर्वी बोली में ऋ के स्थान पर 'इ' या 'उ' मिलते हैं जैसे कृत के लिए 'कित'। इन तीनों बोलियों की विशेष जानकारी हमें अश्वघोष के नाटकों से प्राप्त होती है। अशोक के उपरान्त अश्वघोष के नाटकों में ही प्राकृत का रूप सुरक्षित है। ये नाटक लगभग ईसा की प्रथम शताब्दी के हैं। यहाँ पर ये बोलियाँ प्राचीन अर्ध मागधी, प्राचीन शौर· सैनी तथा प्राचीन मागधी के नाम से पुकारी गई हैं। अर्धमागधी भाषा में ही जैनधर्म के संपादक महावीर स्वामी ने अपने उपदेश दिये हैं। साथ ही बौद्ध ग्रन्थ भी इसी भाषा में मिलते हैं। प्राचीन जैन ग्रन्थ तो अब उपलब्ध नहीं, परन्तु श्वेताम्बरों के जो ग्रन्थ प्राप्त हैं, वे प्राचीन हैं तथा उन पर दक्षिण पश्चिमी महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव है। बाद के श्वेताम्बरी ग्रन्थ तो महाराष्ट्री प्राकृत में ही मिलते हैं। परन्तु दिग- म्बरों के जैन-ग्रन्थ शौरसनी प्राकृत में लिखे गये हैं।

बौद्धों के ग्रन्थों की भाषा अत्यन्त प्राचीन मानी जाती है। अतः यह अर्धमागधी नहीं जान पड़ती, किंतु कुछ-कुछ पश्चिमी प्राकृत से मिलती-जुलती है। सम्भवतः अवन्ति तथा कौशाम्बी में बोली जाने वाली तत्कालीन प्राकृत भाषा के समकक्ष हो। प्राकृतों के प्राचीन समुदाय में पैशाची-प्राकृत का भी नाम मिलता है जिसमें गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' (बड्डकहा) लिखी गई थी। पिशाच-प्रदेश हिन्दुकुश पर्वत के आसपास माना जाता है। परन्तु कोनोव नामक पश्चिमी विद्वान ने पैशाची का स्थान बिन्ध्याचल पर्वत के आसपास सिद्ध किया है तथा नर्मदा के दक्षिण

में इसका बोलाजाना बतलाया है, क्योंकि वहाँ अभी तक पैशाची भाषा जैसे शब्दों के उच्चारण विद्यमान हैं। इन सभी प्राकृतों में 'ऋ' तथा 'लृ' नहीं है तथा 'ऐ' और 'औ' का भी प्रयोग नहीं मिलता। कुछ व्यंजन भी कम हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि गाने के आग्रह से या बोलने की सुविधानुसार संक्षेप में बोलने की प्रथा इन प्राकृतों में भी प्रारम्भ हो गई थी। इसप्रकार व्यंजनों का क्रमशः ह्रस्व या दीर्घ करना इन प्राकृतों में बराबर पाया जाता है।

दूसरी शताब्दी तक इन प्राचीन प्राकृतों के अन्तर्गत धर्मेतर साहित्य पर्याप्त मात्रा में लिखा जाने लगा था, परन्तु उसके उपरान्त महाराष्ट्री भाषा शातवाहनों के राज्य की भाषा बन गई। उस समय मागधी तथा शौरसैनी भी प्रचलित थी। भास, अश्वघोष तथा कालिदास के नाटकों में इनका स्वरूप विद्यमान है। हाल की सतसई में महाराष्ट्री प्राकृत मिलती है। इस दूसरी शताब्दी में आकर प्राकृत भाषा के व्याकरण भी बने और साधारण जनता से इसका संबंध-विच्छेद होने लगा। इसमें साहित्य तो पर्याप्त मात्रा में लिखा गया है, परन्तु संस्कृत की भाँति पवित्रता, शुद्धता तथा सौंदर्य का अभाव रहा। सभी प्राकृतों में महाराष्ट्री का प्रयोग काव्यों और नाटकों में सबसे अधिक हुआ है। शौरसैनी गद्य में ही अधिक प्रयुक्त हुई है। इसमें कविता अत्यन्त अल्पमात्रा में लिखी गई। इसका प्रयोग संस्कृत-नाटकों के स्त्री-पात्रों तथा लघुपात्रों के कथोपकथनों में अधिक हुआ है। जैन-काव्य तथा उनका गद्य साहित्य महाराष्ट्री प्राकृत में अधिक लिखा गया। महाराष्ट्री की अपेक्षा शौरसैनी प्राकृत संस्कृत-भाषा के अधिक निकट है। इसका जन्मस्थान भी संस्कृत का ही प्रदेश था। मागधी प्राकृत का प्रयोग स्मृति ग्रन्थों, कहानियों आदि में हुआ है। भरत मुनि के नाट्य शास्त्र में कुछ और विभाषाओं के नाम भी मिलते हैं। जैसे, दक्षिणात्य, प्राच्य, आवन्ति, धाक्की या टाक्की आदि। ये सभी शौरसैनी की बोलियाँ हैं तथा चांडाली और शाकारी बोलियों का भी उल्लेख है जो मागधी की बोलियाँ हैं। पैशाची प्राकृत का प्रयोग नाटकों में नहीं मिलता।

नाटकों के अध्ययन के आधार पर कुछ विद्वानों का मत है कि पहले सभी नाटक प्राकृत में ही लिखे गये थे। संस्कृत का प्रयोग तो बाद में हुआ, जब कि जनता संस्कृत को समझने योग्य बन गई। परन्तु डा० कीथ की दृष्टि में यह मत किसी प्रकार मान्य नहीं, क्योंकि नाटकों की कथावस्तु का संबंध संस्कृत के महाकाव्यों से है। जब मूल कथा संस्कृत में है तो फिर उससे कथा लेकर कौन प्राकृत में नाटक लिखेगा ? फिर भास का एक ऐसा भी नाटक मिला है जो पूर्णतया संस्कृत में ही है। साथ ही नाट्यशास्त्र में भी लिखा है कि उसकाल में संस्कृत सर्वसाधारण की भाषा थी। ग्रियर्सन महोदय ने लिखा है कि कुछ विद्वान रामायण तथा महाभारत को भी पहले प्राकृत में लिखे हुए मानते हैं। परन्तु इन महाकाव्यों के देखने से पता चलता है कि ये ग्रन्थ किसी अन्य भाषा के रूपान्तर नहीं है। प्राकृत भाषा का अधिक प्रचार तो केवल बौद्धकाल में हुआ जब ब्राह्मणों के विरुद्ध बुद्धजी ने आवाज उठाई और संस्कृत के स्थान पर सर्वसाधारण की बोली में उपदेश देने के लिए आग्रह किया गया।

दूसरे, पाणिनि की अष्टाध्यायी से पता चलता है कि वह संस्कृत के महाकाव्य महाभारत से परिचित था। साथ ही रामायण का भी निर्माण अशोक से बहुत पहले हो चुका था। अतः प्राकृत युग संस्कृत-युग के उपरान्त ही प्रतीत होता है। तीसरे, चरक संहिता के अध्ययन से ज्ञात होता है कि चरक के समय में वैद्यक वाद-विवादों में संस्कृत का ही प्रयोग होता था, प्राकृत का नहीं। चौथे, वात्स्यायन के कामशास्त्र में एक सभ्य पुरुष के लिए संस्कृत भाषा का ज्ञान आवश्यक बतलाया है। पाँचवें, ह्वेनसाँग ने ७ वीं शताब्दी में लिखा है कि बौद्ध लोग भी वाद-विवादों में संस्कृत का ही व्यवहार करते थे। छठे, जैन-ग्रन्थों में भी एक सभ्य पुरुष के लिए संस्कृत का ज्ञान आवश्यक बतलाया है तथा जैन-सिद्धर्षि (९०६ वि०) ने तो यहाँ तक लिखा है कि उसकी संस्कृत इतनी सरल थी कि प्राकृत समझने वाले भी अच्छी तरह समझ सकते थे। सातवें, बौद्धों का संस्कृत के विरुद्ध

ईसा से पाँचवीं शताब्दी पूर्व का आन्दोलन इस बात का प्रमाण है कि संस्कृत प्राकृत से पहले प्रचलित थी। वैसे प्रथम शताब्दी में प्राकृत अवश्य प्रचलित होगई थी, परन्तु उस समय संस्कृत का भी प्रभाव कम न था। प्राकृतों का जोर चौथी शताब्दी तक अधिक रहा, फिर गुप्तकाल में आकर प्राकृत पूर्णतया विलुप्त होगई तथा बौद्ध लोग भी अपने प्राकृत ग्रन्थों का अनुवाद संस्कृत में करने लगे। जैनों ने भी संस्कृत को अपना लिया। आठवें, शतपथ ब्राह्मण के देखने से पता चलता है कि संस्कृत केवल व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, शिक्षा आदि में ही प्रयुक्त होने वाली भाषा न थी अपितु सर्वजन विद्या, देवजन विद्या जैसी जादू-टौने की पुस्तकें भी इसी में लिखी जाती थीं। नवें, धनुर्विद्या, गायन विद्या, शिल्पकला तथा राजनीति की शिक्षा के बारे में भी महाभारत में लिखा है कि ये सभी संस्कृत में सिखाई जाती थीं और इनके शिक्षक प्रायः ब्राह्मण थे। दसवें, पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में जो संस्कृत के लिए "भाषा" शब्द का प्रयोग किया है उससे भी संस्कृत के बोलचाल की भाषा होने का सङ्केत मिलता है। उसने गड़रिये तथा शिष्टजन के द्वारा शुद्ध उच्चारण करने के लिए ही व्याकरण रचा था। ग्यारहवें, कात्यायन तथा पतंजलि के ग्रन्थों से भी संस्कृत के सर्वसाधारण में बोलने के प्रमाण मिलते हैं क्योंकि पातंजलि महाभाष्य में लिखा है कि "व्याकरण शब्दों का निर्माण नहीं करती अपितु व्यवहार में आने वाले प्रचलित शब्दों का ठीक ठीक उच्चारण करना भी सिखाती है।" बारहवें, विल्हण ने १०६० ई० में लिखा है कि काश्मीर में पुरुष ही क्या स्त्रियाँ भी संस्कृत तथा प्राकृत दोनों को अच्छी तरह समझती थीं और उन्हें मातृभाषा मानती थीं। साथ ही पंचतत्र से भी यही पता चलता है कि राजनीति को पढ़ाने के लिये बहुत पीछे तक संस्कृत भाषा का ही व्यवहार होता रहा था।

अन्त में उपर्युक्त विभिन्न आधारों पर यही सिद्ध होता है कि बौद्ध काल में संस्कृत के स्थान पर अर्धमागधी प्राकृत ने अपना अधिकार जमाने की चेष्टा की क्योंकि यही प्राकृत उस काल में बुद्धजी के सम्पर्क

द्वारा श्रेष्ठ प्राकृत मानी जाती थी। परन्तु कुछ काल के उपरान्त ही इस प्राकृत का प्रभाव कम होने लगा और पुनः संस्कृत अपने पूर्व पद पर आगई। प्रथम शताब्दी में प्राकृत का जोर रहा। द्वितीय शताब्दी में वह जोर कम होने लगा और प्राकृत के साथ-साथ संस्कृत का भी प्रयोग होने लगा। रुद्रदामन का लेख इसी कारण संस्कृत में मिला है जोकि दूसरी शताब्दी का माना जाता है। किंतु चौथी शताब्दी के आते-आते प्राकृत बिल्कुल लुप्त होगई और उनमें साहित्य-चर्चा भी बन्द होगई। इस प्रकार भाषा का क्रमिक स्वरूप जानने पर यही पता चलता है कि संस्कृत-युग प्राकृत-युग की अपेक्षा प्राचीन है।

प्रश्न १६—नाटकों की उत्पत्ति सम्बन्धी विभिन्न मतों का विवेचन करते हुए संस्कृत नाटकों की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तर—संस्कृत साहित्य में 'नाटक' के लिए 'रूपक' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'रूपक' दस प्रकार का होता है और उसका सर्वश्रेष्ठ तथा सर्व प्रथम भेद 'नाटक' है। परन्तु आजकल 'रूपक' की अपेक्षा 'नाटक' शब्द का ही प्रचार अधिक देखा जाता है और सभी प्रकार के रूपकों के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। कहना न होगा कि आज-कल 'रूपक' शब्द का स्थान 'नाटक' ने ही ले लिया है। इन नाटकों का उद्भव अत्यन्त प्राचीन काल में ही होगया था। भारतवर्ष में जितने प्राचीन नाटक मिले हैं उन सबमें कालिदास कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' ने पाश्चात्य विद्वानों को इतना चकित कर दिया था कि वे बड़े उत्कटता के साथ यहाँ की नाट्यकला का अध्ययन करने में अग्रसर हुए और अनेक नये-नये तत्वों की जानकारी प्राप्त की। नाटकों की उत्पत्ति कब और कैसे हुई इस विषय पर विभिन्न विद्वानों ने अपनी भिन्न-भिन्न राय प्रकट की हैं। इस विषय पर पाश्चात्य विद्वानों ने अधिक खोज की है और भिन्न-भिन्न वाद स्थापित किये गये हैं। उन वादों में से कुछ का सम्बन्ध धार्मिक भावनाओं से है और कुछ लौकिक लीलाओं या रीति-

रिवाजों से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार नाट्यकला एवं नाटक की उत्पत्ति में अनेक वादों की सृष्टि हुई है। इन समस्त वादों को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(क) परम्परागतवाद
(ख) धार्मिक भावनावाद
(ग) लौकिक लीलावाद।

अब क्रमशः प्रत्येक वाद के विषय में विवेचन करते हुए यह देखने की चेष्टा करेंगे कि विद्वानों ने किन-किन आधारों पर अपने-अपने मत स्थापित किये हैं तथा उनमें से कौन सा मत या वाद अधिक समीचीन जान पड़ता है। वैसे तो सभी मत अपनी-अपनी खोज पर निर्धारित हुए हैं, परन्तु फिर भी कुछ मत ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध अन्य मतों से भी है और सभी मतों के आधार पर किसी एक निर्णय पर भी पहुँचा जा सकता है।

[क] परम्परागतवाद

(१) द्यु लोकवाद—साम्प्रदायिक मतों के आधार पर भारत की धर्मप्राण जनता का विश्वास है कि नाट्य-विज्ञान का आविर्भाव द्यु-लोक से हुआ है। इसके आविर्भाव का काल त्रेता युग माना गया है, क्योंकि सतयुग में तो सभी प्राणी अत्यन्त सुखी थे और उन्हें किसी प्रकार के मनोविनोद की आवश्यकता न थी, परन्तु त्रेतायुग के आते ही जगतीतल पर दुखों का आविर्भाव हुआ। अतः देव तथा दानव दोनों मिलकर ब्रह्माजी के समीप गये और कहा कि इस जगती के दुःख से तनिक छुटकारा प्राप्त करने के लिए हमें कोई ऐसी वस्तु प्रदान करो जिससे हमारा मनोविनोद हो तथा कुछ क्षणों के लिए हम सांसारिक कष्टों को भूल जायँ। ब्रह्माजी ने ध्यानावस्थित होकर जगती के प्राणियों के लिए नाट्य वेद प्रकट किया। इसके लिए उन्हें चारों वेदों से सहायता लेनी पड़ी। ऋग्वेद से नृत्य, सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस लेकर नाट्य-कला की सृष्टि की और इसे पंचम वेद

कहकर प्रसिद्ध किया। इसमें शिवजी ने तांण्डव नृत्य, पार्वतीजी ने लास्य नृत्य तथा विष्णु ने चार वृत्तियों का समावेश करके पूर्ण कलात्मकता उत्पन्न की। इतना ही नहीं स्वर्गलोक के निर्माण-कार्य-कुशल विश्वकर्मा ने एक सुन्दर रंगमंच निर्माण किया तथा उस पर नाटक खेले जाने लगे। सबसे प्राचीन नाटक त्रिपुर-दाह तथा समुद्र-मन्थन थे, जो इन्द्रध्वज-पर्व पर खेले गये थे और जिसमें पुरुषों का अभिनय पुरुषों ने तथा स्त्रियों का अभिनय स्त्रियों ने किया था। इस कला को मर्त्यलोक में पहुँचाने का कार्य भरत मुनि को सौंपा गया। इस प्रकार द्युलोक से यह नाट्य-कला मर्त्यलोक में आई। इस समस्त उपाख्यान में भले ही हमारे यहाँ की दैविक उत्पत्ति वाली वह धारणा कार्य कर रही हो जिसके आधार पर यहाँ प्रत्येक वस्तु का विकास देवताओं से माना जाता है, परन्तु इतना अवश्य है कि इससे निम्नलिखित बातों का ज्ञान भली प्रकार हो जाता है :—

(१) नाट्य-कला के निर्माण में चारों वेदों का योग है।
(२) पहले नर तथा नारी दोनों अभिनय करते थे।
(३) पहले सभी नाटक धार्मिक थे तथा धार्मिक पर्वों पर खेलने की ही प्रथा प्रचलित थी।
(४) वैदिक काल में कोई भी नाटक नहीं बना था। यही कारण है कि देवता और दानवों को ब्रह्मा से प्रार्थना करनी पड़ी थी।

[ख] धार्मिक भावनावाद

(२) मृतकपूजावाद—डा० रिज़वे का विचार है कि सारे संसार में नाटकों का उत्पत्ति मृतात्माओं के प्रति प्रकट की हुई श्रद्धा से हुई है। प्रायः यह श्रद्धा प्रकट करने की प्रथा ग्रीस, भारत आदि सभी प्राचीन देशों में प्राचीन काल से ही विद्यमान है। फिर इसी श्रद्धा को समस्त धर्मों का मूल माना गया है। साथ ही इस श्रद्धा की अर्थापन्न चीजों में से जीव-बलि के सिद्धान्त का एक पुनरुच्छ्वसन भी है। इस प्रकार

नाटकों का अभिनय मृतात्माओं की प्रीति के निमित्त होता था। राम-लीला तथा कृष्ण लीलाओं में भी यही भावना मौजूद है क्योंकि अपने पूर्वजों के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिए ही ये धार्मिकलीलायें होती हैं। अतः मृतकपूजा के कारण ही धीरे-धीरे नृत्य, गान तथा अभिनय होने लगे और नाटकों का प्रणयन प्रारम्भ होगया। डा० रिज़वे के इस मत को कई योरोपियन विद्वान नहीं मानते।

(३) मे-पोलवाद—उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि नाटक की उत्पत्ति 'मे-पोल' (May-Pole) नृत्य से हुई है। पाश्चात्य प्रदेशों में मई का महीना अत्यन्त आनन्दप्रद होता है। इस माह में ही वहाँ उत्सव होते हैं, लोग नाचते-कूदते हैं तथा खूब आनन्द मनाते हैं। इतना ही नहीं, वे लोग एक लम्बा बाँस गाढ़कर उसके नीचे इकट्ठे होते हैं और सभी स्त्री-पुरुष मिलकर साथ-साथ नृत्य करते हैं। भारतवर्ष में इन्द्रध्वज का उत्सव भी लगभग इसी प्रकार हुआ करता था। इससे सिद्ध होता है कि नाटकों की उत्पत्ति बसंत में मनाये जाने वाले त्यौहारों के आधार पर हुई होगी। यह तो स्पष्ट ही है कि सारे संसार में बसंत का महीना अत्यन्त आनन्दोत्सव का मास माना गया है। कारण यह है कि भीषण शरद् के बाद बसंत का आगमन सभी प्राणियों के लिए सुखद होता है। अतः उस समय सभी सभ्य जातियाँ प्रायः उत्सव मनाती हैं। परन्तु इस वाद में यही दोष दिखाई देता है कि मे-पोल-नृत्य का सम्बन्ध जो इन्द्रध्वज-पर्व से जोड़ा गया है, उसमें मे-पोल-उत्सव तो बसंत में होता है जबकि इन्द्रध्वज का पर्व भारत में वर्षा के अन्त में हुआ करता है क्योंकि यह इन्द्र की वृत्र (मेघ) विजय का सूचक है।

(४) कृष्णोपासनावाद—इस वाद के अनुसार नाटकों का उद्-भव केवल कृष्ण की उपासना से बतलाया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कृष्णोपसना के कई अङ्ग इस प्रसङ्ग में बड़े महत्वशाली हैं। उदाहरण के लिए जैसे रथयात्रायें, नृत्य, वाद्य और गीत तथा लीलायें

सभी ऐसे उपकरण हैं जो संस्कृत नाटक के निर्माण में सहायक सिद्ध हुए हैं। इसी मत के आधार पर विद्वानों की राय है कि संस्कृत नाटक का सर्वप्रथम विकास कृष्णोपासना के आधार पर उसके प्रमुख स्थान शूरसेन प्रदेश में हुआ। संस्कृत नाटकों में शौरसैनी प्राकृत की प्रबलता भी इसका प्रमाण है। परन्तु इस वाद में सब से बड़ा दोष यह है कि कृष्ण सम्बन्धी नाटक ही सब से प्राचीन हैं इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता। दूसरे, राम, शिव आदि अन्य देवताओं की प्रसिद्ध उपासनाओं ने भी भारतीय नाटक के विकास में अवश्य सहयोग दिया होगा, परन्तु इस वाद में उसकी उपेक्षा की गई है।

[ग] लौकिक-लीलावाद

(५) **लोकप्रियस्वाँगवाद**—प्रो० हिलब्रैंट तथा स्टेनकोनो का विचार है कि भारतवर्ष में पहले लोक-प्रिय स्वाँग अधिक प्रचलित थे और उन स्वाँगों से ही नाटकों का प्रादुर्भाव हुआ है। इन स्वाँगों में रामायण तथा महाभारत के आख्यान मिलाकर ही नाटकों की कथा-वस्तु तैयार की गई होगी। परन्तु इस मत का खंडन डा० कीथ ने किया है। इनका मत यह है कि नाटक के प्रचार से पूर्व स्वाँगों के प्रचलित होने का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता। मि० कोनो ने जिन प्रमाणों का उल्लेख किया है वे सभी महाभाष्य के समकालीन तथा उसके उपरान्त के हैं। अतः उनसे स्वाँगों की प्राचीनता सिद्ध नहीं होती। हाँ, प्रो० हिल-ब्रैंट ने जो युक्तियाँ दी हैं, उनमें कुछ बल है। इन्होंने (१) नाटकों में संस्कृत के साथ प्राकृत का प्रयोग, (२) गद्य-पद्य का सम्मिश्रण (३) रंग-शालाओं में आडम्बर शून्यता तथा सादगी का होना और (४) विदूषक जैसे लोकप्रिय पात्र के आधार पर नाटकों को लोकप्रिय स्वाँगों से उत्पन्न माना है। उक्त चारों बातों में से पहली तीन बातों का समाधान तो बहुत अच्छी तरह होजाता है और नाटकों की उत्पत्ति का सम्बन्ध धार्मिक संस्कारों से जुड़ जाता है। किंतु नाटकों में विदूषक जैसे पात्र की सत्ता का प्रादुर्भाव महाव्रतसंस्कार में शूद्रपात्र की आवश्यकता से हुआ।

माना जा सकता है और महाव्रत एक धार्मिक संस्कार है। दूसरे पक्ष में तो कोई ऐसा प्रमाण ही नहीं मिलता जो नाटकों में विदूषक रखने की प्रथा का संबंध किसी लौकिक लीला से हो।

(६) पुत्तलिकानृत्यवाद :—जर्मनी विद्वान डा० पिशल ने नाटकों की उत्पत्ति कठपुतली के नाच से मानी है। नाटकों में प्रयुक्त होने वाले सूत्रधार तथा स्थापक आदि शब्द इस मत के समर्थक हैं। इसके साथ ही इनका उल्लेख पुत्तलिका, पुत्रिका, दारुमयी आदि नामों से महाभारत, कथासरित्सागर और राजशेखर की बालरामायण में बहुशः पाया जाता है। परन्तु इस वाद में भी त्रुटि दिखाई देती है क्योंकि प्रो० हिलब्रैंट के मतानुसार कठपुतलियों के नाच का इतिहास दृष्टि में रखकर यह मानना पड़ता है कि नाटकों का प्रारंभ इससे पहले ही होचुका था। दूसरे, रस-भाव संवलित नाटक की उत्पत्ति इस सामान्य नृत्य से मानना नितान्त निराधार तथा असंगत प्रतीत होता है।

(७) छायानाटकवाद—डा० लूडर्स तथा कोनो के मतानुसार नाटक की उत्पत्ति एवं विकास में छाया-नाटकों का बहुत हाथ रहा है। पहले प्रायः छाया द्वारा बहुत से खेल दिखाने की प्रथा प्रचलित थी। यह बात स्मरणीय है कि 'रूपक' शब्द जितना इस सिद्धान्त के अनुसार अन्वर्थ सिद्ध होता है उतना किसी और के नहीं। परन्तु जैसा कि डा० कीथ का मत है कि यह वाद महाभाष्य के एक स्थल के अयथार्थ अर्थावधारण पर अवलम्बित है। इस वाद में सबसे बड़ी त्रुटि तो यही है कि इसके आधार पर नाटकों के गद्य-पद्य के मिश्रण तथा संस्कृत-प्राकृत के प्रयोग का कोई कारण नहीं बताया जा सकता। दूसरे, अन्यवादों की भाँति इस वाद के मानने वाले को भी नाटकों की सत्ता छाया द्वारा दिखाये जाने वाले खेलों के जन्म से पूर्व ही स्वीकार करनी पड़ती है। वैसे 'दूतांगद' नामक छाया-नाटक संस्कृत साहित्य में प्राचीन है। परन्तु यह न तो अधिक प्राचीन ही है और न अधिक महत्वपूर्ण ही है। अतः छाया-नाटक जैसे सीधे-सादे उपकरण से भारतीय नाट्य-कला का उदय

मानना सर्वथा भ्रमपूर्ण है।

(८) संवादसूक्तवाद—ऋग्वेद में १५ से अधिक संवाद सूक्त ऐसे मिलते हैं जिनमें धार्मिक भावनाओं के अतिरिक्त लोक-व्यवहार से संबंध रखने वाले संवाद आये हैं। सन् १८६६ ई० में प्रो० मैक्स-मूलर का ध्यान इन सूक्तों की ओर गया और उन्होंने इन सूक्तों को नाटकों की उत्पत्ति का मूल बतलाया। कुछ कालोपरांत प्रो० लैवि ने भी इस बात का समर्थन किया तथा वॉन श्रोडर ने इस प्रस्ताव पर गंभीरता के साथ अध्ययन करके विचार किया और यह प्रमाणित करने का भी प्रयत्न किया कि इन सूक्तों से रहस्यपूर्ण नाटकों की सूचना मिलती है। डा० हरटल ने एक पग और आगे बढ़ कर यहाँ तक घोषणा की कि वैदिक नाटक के विकास का मूल रूप हमें सुपर्णाध्याय में देखने को मिल सकता है। दूसरे और-और विद्वानों ने भी ऋग्वेद के इन सम्वादों में नाटक की मूल सामग्री खोजने की चेष्टा की। वैसे भी नाटक के तीन मुख्य उपकरण होते हैं—नृत्य, गीत तथा संवाद। पहले इन सम्वादों के साथ नृत्य एवं गीत भी रहे होंगे परन्तु आज उनका रूप वहाँ नहीं मिलता। वैसे ऋग्वेद में विवाह-सूक्त के अन्तर्गत नव-दम्पत्ति के सामने पुरंध्रियों के नृत्य करने का उल्लेख मिलता है और गीत तो ऋग्वेद में कितने ही भरे पड़े हैं। अतः इन सम्वादों से ही नाटकों की उत्पत्ति सम्भव है। क्योंकि इन सम्वाद-सूक्तों में से कुछ सूक्तों में तो सुन्दर वार्तालाप भी विद्यमान हैं।

(९) वैदिकानुष्ठानवाद—उपर्युक्त सम्वाद-सूक्तों के अतिरिक्त कुछ विद्वान वैदिकानुष्ठानों में नाटकों की उत्पत्ति के बीज देखते हैं। वैसे देखा जाय तो वैदिक अनुष्ठानों में नाटक के सभी उपादान तत्व मिल सकते हैं। ऋग्वेद के सम्वाद-सूक्तों का वर्णन ऊपर हो ही चुका है। ये सम्वाद भी अनुष्ठान के एक अङ्ग थे। इसके साथ ही वैदिक काल में महाव्रत अनुष्ठान अधिक प्रचलित था। यह अनुष्ठान एक प्रकार का नाटक सा ही था। क्योंकि इस अनुष्ठान में कुमारियाँ अग्नि के चारों

ओर नाचती थीं। शूद्र और वैश्य का प्रकाश के लिए कलह का वर्णन वस्तुतः नाटकीय अभिनय का द्योतक है। इसके साथ ही यज्ञ-सूत्रों में यज्ञ मण्डप के अन्तर्गत बैठे हुए यजमानों तथा याजकों के मनोविनोदार्थ वार्त्तालापमय सूक्त भी नाटक के कथोपकथनों की ओर सङ्केत करते हैं। कई विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि नाटकों में गद्यमय संवाद महाव्रत अनुष्ठान में प्रयुक्त संवाद को देखकर ही बढ़ाया गया है। यदि इस विचार को ठीक मानलें तो नाटक के सभी उपादान तत्व हमें वैदिक अनुष्ठानों में मिल जाते हैं।

उपर्युक्त विभिन्नवादों के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि नाटकों की उत्पत्ति में प्राचीन नृत्य, गीत एवं संवादों का अधिक हाथ रहा है। सभी जातियों में ये नृत्य गीत आदि अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित थे। भारत में सभ्यता के विकास के साथ-साथ ही इन नृत्य-गीतादि का भी शीघ्र विकास हुआ और इनका विकसित रूप ही नाटक कहलाया, जिसमें अभिनय ने और भी जीवन डाल दिया। इस प्रकार भारत में ही सर्व प्रथम नाटकों का सूत्रपात हुआ।

संस्कृत-साहित्य में भास, कालिदास, शूद्रक, विशाख, भवभूति, नारायण, श्रीहर्ष आदि उच्चकोटि के नाटककार माने जाते हैं जिनके क्रमशः स्वप्नवासवदत्त, अभिज्ञान शाकुन्तल, मृच्छकटिक, मुद्राराक्षस, उत्तररामचरित, वेणीसंहार, रत्नावलि आदि प्रसिद्ध एवं उत्कृष्ट नाटक हैं। जिनका अध्ययन करने पर संस्कृत नाटकों की निम्नलिखित विशेषताओं की ओर ध्यान जाता है :--

(१) संस्कृत नाटकों में प्रायः नांदी, प्रस्तावना तथा भरत वाक्य का प्रयोग हुआ है।

(२) कुछ नाटकों में अङ्कावतार, विष्कंभक आदि का भी प्रयोग मिलता है।

(३) प्रायः सभी नाटक अङ्कों में विभाजित हैं और प्रत्येक अङ्क की समाप्ति पर सभी पात्र रंगमंच को छोड़कर चले जाते हैं।

(४) कुछ नाटक परिमाण में वृहत् आकार वाले भी हैं, जैसे अकेला

मृच्छकटिक नाटक ग्रीक नाटककार एसकिलस के तीन नाटकों के बराबर है।

(५) इन नाटकों में संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाओं का मिश्रण मिलता है। उच्चकुलोद्भव राजा, पण्डित अथवा अन्य विद्वान संस्कृत भाषा का प्रयोग करते हैं और स्त्री-पात्र तथा अन्य तुच्छ पात्र या विदूषक प्राकृत भाषा में वार्तालाप करते हैं।

(६) इन नाटकों में विदूषक की कल्पना अद्वितीय है। यह विदूषक राजा का मित्र या सखा होता है किन्तु दास नहीं होता।

(७) नाटकों की कथावस्तु नितान्त मौलिक या भारतीय ऐतिहासिक ग्रन्थों से ही ली गई है। इनमें विदेशी कथाओं का सम्मिश्रण नहीं मिलता।

(८) इन नाटकों के अन्तर्गत रङ्गमंच पर किसी का बध, विवाह, नौका-सन्तरण, युद्ध आदि नहीं दिखाये जाते।

(९) देश-काल-संकलन की ओर ध्यान नहीं दिया गया है।

(१०) इन नाटकोंमें गद्य तथा गेयपद्य का सफल एवं सुन्दर सम्मिश्रण मिलता है।

(११) इन सभी नाटकों में दर्शकों को आकर्षित करने तथा रस-परिपाक की ओर विशेष ध्यान दिया गया है।

(१२) यहाँ के नाटकों में सुखान्त नाटकों की ही प्रधानता है, दुखान्त नाटक नहीं के बराबर लिखे गये हैं।

(१३) संस्कृत के नाटकों का प्रधान लक्ष्य लोकानुरंजन रहा है।

(१४) इन नाटकों में ऐतिहासिक या मौलिक कथा के साथ-साथ नाटककार के समय की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक दशा का ज्ञान भी सफलतापूर्वक होजाता है।

(१५) इन नाटकों में मानव जीवन के साथ-साथ प्राकृतिक जीवन का भी सफल चित्रण मिलता है।

उपर्युक्त कतिपय विशेषताओं के अतिरिक्त और भी बहुत सी नाट्य कला सम्बन्धी ऐसी बातें हैं जिनके कारण आज विश्व-साहित्य में भारत

के संस्कृत नाटकों का श्रेष्ठ स्थान है। अकेले "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" ने ही विश्व में हलचल उत्पन्न कर दी है। इस विश्व-विख्यात नाटक का संसार की लगभग समस्त भाषाओं में अनुवाद होचुका है और देशी तथा विदेशी सभी विद्वान इसकी प्रशंसा करते-करते तृप्त नहीं होते। इस प्रकार संस्कृत का नाटक साहित्य अत्यधिक उत्कृष्ट है।

प्रश्न १७—कौटिल्य के अर्थशास्त्र पर एक आलोचनात्मक लेख लिखिए।

उत्तर—कौटिल्य का अर्थशास्त्र राजनीति एवं अर्थशास्त्र का प्रमुख ग्रन्थ है। इसे लिखकर दक्षिण भारतीयों ने संस्कृत साहित्य का बड़ा उपकार किया है। दक्षिणात्यों के उल्लेखनीय ग्रन्थों में कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र का सर्वाधिक महत्व है क्योंकि जब से इस ग्रन्थ का पता चला है तब से प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता के सम्बन्ध में कितनी ही अद्भुत बातों का पता चला है। इस ग्रन्थ के मिलने से पूर्व भारतवासी राजनीति शास्त्र में बिल्कुल शून्य समझे जाते थे। साधारणतः पाश्चात्य विद्वान् यही समझते थे कि भारतीयों ने केवल विचार क्षेत्र में तो पर्याप्त दौड़ लगाई है, परन्तु क्रिया-क्षेत्र में वे बुरी तरह असफल रहे हैं; परन्तु कौटिल्य के अर्थशास्त्र ने राज्य-सिद्धान्तों का ही नहीं अपितु राज-प्रबन्ध सम्बन्धी उन सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों का भी वर्णन किया है जिन्हें पढ़कर आज संसार के बड़े-बड़े कूटनीतिज्ञ दाँत तले उँगली दबा जाते हैं। इस शास्त्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें हमें सिद्धान्त एवं क्रिया का सुन्दर सामंजस्य मिलता है। इस कारण आज इस ग्रन्थ का महत्व ग्रीक के अरस्तू अथवा अफलातून के ग्रन्थों से भी अधिक है।

इस ग्रन्थ के रचयिता सम्राट् चंद्रगुप्त के अमात्य विष्णुगुप्त चाणक्य माने जाते हैं, जिनके कितने ही और नाम भी मिलते हैं। अभिधान चिन्तामणि नामक कोश में वात्स्यायन, मल्लनाग, कौटिल्य, चाणक्य, द्रमिल, पक्षिलस्वामी, विष्णुगुप्त, अंगल आदि आठ नाम कौटिल्य के

ही मिलते हैं। वैसे चणक का पुत्र होने के कारण चाणक्य तथा कुटिल-नीति का पक्षपाती होने के कारण कौटिल्य नाम पड़ा होगा। अन्य नाम अधिक प्रसिद्ध नहीं हैं। सौभाग्य से चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र के अन्त में लिख दिया है कि—"स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रञ्च भाष्यञ्च।" अर्थात् स्वयं विष्णुगुप्त ने ही इस शास्त्र के सूत्र एवं भाष्य लिखे हैं। बाह्य प्रमाणों के आधार पर यदि विचार करें तो पता चलेगा कि सर्वप्रथम कामन्दक ने अपने नीतिशास्त्र में ग्रन्थ का प्रयोजन एकमात्र कौटिलीय अर्थशास्त्र का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत करना बतलाया है, साथ ही ग्रन्थारम्भमें विष्णुगुप्त को नमस्कार किया है। दूसरे, दण्डीने दशकुमार-चरित में दो स्थलों पर कौटिल्य के अर्थशास्त्र को उद्धृत किया गया है तथा उसमें दिये हुए राजा के दैनिक कर्त्तव्यों को वैसे ही अपने ग्रन्थ में भी लिख दिया है। साथ ही यह भी पता चलता है कि दण्डी कौटिल्य अर्थशास्त्र के ६००० श्लोकों से भी परिचित था। तीसरे, जैन धर्म के नंदिसूत्र (५ वीं शताब्दी) में, पंचतंत्र में, सोमदेवकृत नीतिवाक्यामृत में और कालिदास कृत ग्रन्थों पर लिखी हुई मल्लिनाथ की टीका में स्थान-स्थान पर कौटिलीय अर्थशास्त्र का उल्लेख मिलता है।

कुछ लोगों का मत है कि चन्द्रगुप्त के समय में चाणक्य नाम का कोई विद्वान् नहीं हुआ। इसके प्रमाण में उनकी उक्ति यह है कि चन्द्रगुप्त के समय में मेगस्थनीज़ आया था, उसने चन्द्रगुप्त के शासन-काल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, परन्तु चाणक्य का नाम तक नहीं लिखा फिर भी चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य के पारस्परिक सम्बन्ध का पता कितने ही ग्रन्थों से मिल जाता है। सर्वप्रथम विष्णुपुराण, वायुपुराण तथा ब्रह्माण्डपुराण में चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य के घनिष्ठ सम्बन्ध का वर्णन आया है। दूसरे, जैन तथा बौद्ध ग्रन्थों में दोनों की मित्रता का वर्णन मिलता है। तीसरे, विशाखदत्त द्वारा लिखित संस्कृतके मुद्राराक्षस नाटक में दोनों की घनिष्ठता का सफल चित्रण मिलता है।

इस ग्रन्थ के बारे में आशङ्का उठने का सबसे बड़ा कारण यह है कि मूल अर्थशास्त्र में लगभग ७२ वार "इति चाणक्यः" ऐसे वचन आये

हैं। अतः श्री हिलब्रैंट का मत है कि ऐसा लिखने के कारण यह "कौटिलीय अर्थशास्त्र" चाणक्य का नहीं हो सकता। यह तो चाणक्य को मानने वाले विद्वानों द्वारा निर्माण किया हुआ ग्रन्थ हो सकता है कारण यह है कि 'निरुक्त' तथा 'महाभाष्य' में 'इतियास्कः' तथा 'इतिपतंजलिः' ऐसे वाक्य नहीं मिलते। अतः ये दोनों ग्रन्थ उक्त विद्वानों के ही हैं। परन्तु इस मत का विरोध करते हुए श्री जेकोबी ने इस ग्रन्थ को चाणक्य कृत ही माना है और कहा है कि भारत में अनेक लेखकों ने अपने ग्रंथों में अपने नाम का प्रयोग प्रथम पुरुष में ही किया है। इसका कारण यह है कि वे स्वाभिमान दोष के भागी होना नहीं चाहते थे। हिन्दी साहित्य में भी कबीर, दादू, सूर, तुलसी, आदि ने भी ऐसा ही किया है। इसके अतिरिक्त कामन्दक ने इस ग्रन्थ को एक ही लेखक की रचना माना है। दूसरे, लेखक ने यह अर्थशास्त्र एक विशेष उद्देश्य से लिखा था जिसका कि उल्लेख प्रारम्भमें इस प्रकार मिलता है—"पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्य्यैः प्रस्थापितानि प्रायशस्तानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम्" इसमें कहीं भी व्याघात दोष नहीं पाया जाता। तीसरे, यदि चाणक्य के बाद का कोई लेखक इस ग्रन्थ का रचयिता होता तो "इति चाणक्यः", "नेति चाणक्यः" और "इत्याचार्याः" इत्यादि वाक्यों का कुछ अर्थ न होता, क्योंकि तब तो स्वयं चाणक्य एक आचार्य होते। चौथे, इस ग्रन्थ में लगभग ११४ बार चाणक्य ने अपने पूर्वाचार्य्यों का उल्लेख करके उनके मतों की तीव्र आलोचना की है। पाँचवे, मूल-ग्रन्थ में सर्वत्र लेखक का नाम अथवा उसका उल्लेख एक वचन में हुआ है। छठे, अर्थशास्त्र के प्रारम्भ में जो अनुक्रमणिका तैयार की गई है, प्रायः उसी के आधार पर आगे ग्रन्थ भी निर्मित हुआ है। इस तरह इन सभी बातों के आधार पर कौटिलीय अर्थशास्त्र एक ही लेखक की रचना जान पड़ता है। वैसे इसके पूर्व और भी कितने ही अर्थशास्त्र के ग्रन्थ रचे जा चुके थे, परन्तु चाणक्य ने उन ग्रन्थों में प्राप्त सामग्री में पर्याप्त हेर-फेर करके तब अपने इस ग्रन्थ का निर्माण किया है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र के रचनाकाल के बारे में अधिकांश विद्वानों का मत यही है कि यह चौथी शताब्दी ई० में बना होगा। वैसे डा० फ्लीट ने ३२१--२९६ ई० पूर्व इसका रचना-काल माना है। प्रो० जैकोबी, डा० टामस आदि कितने ही पाश्चात्य विद्वान इसी मत से सहमत हैं। परन्तु प्रो० जौली का विचार यह है कि यह ग्रन्थ कामसूत्र से मिलता जुलता है और कामसूत्र का निर्माण ईसा की चौथी शताब्दी में हुआ। अतः यह अर्थशास्त्र भी चौथी शताब्दी में ही बना होगा। प्रो० विंटरनिट्ज तथा प्रो० कीथ ने भी इसे चौथी शताब्दी की ही रचना माना है। साथ ही विंटरनिट्ज ने इसके रचयिता को कोई विशेष राजनीतिज्ञ न मान कर केवल एक पुरोहित माना है। परन्तु भारत में पुरोहित तथा राजनीतिज्ञ दोनों एक ही होते आये हैं जैसे माधव तथा सायण। चंद्रगुप्त तथा चाणक्य का घनिष्ठ सम्बन्ध रहने के कारण भी यही सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ ईसा से चौथी शताब्दी पूर्व बना होगा। इस बात की सूचना देने वाले 'नरेन्द्रार्थ' तथा 'मौर्यार्थ' शब्द हैं जो कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्रयुक्त हुए हैं। इसके साथ ही युता, राजुका, पाषण्डेषु, समाज, महामाता आदि पारिभाषिक शब्द कौटिल्य के अर्थशास्त्र की भाँति ही अशोक के शासन-लेखों में भी मिलते हैं। दूसरे, कौटिल्य अर्थशास्त्र तथा अशोक के शासन लेखों में कुछ समान विधान भी मिलते है, जैसे चक्रवाक, शुक तथा सारिका आदि पक्षियों की हत्या नहीं करना चाहिए। औषधि वाले वृक्षों को बोना चाहिए और सड़कों एवं पगडण्डियों के सहारे कुँये बनवाना चाहिए। उपर्युक्त बातों के आधार पर भी अशोक से पूर्व कौटिल्य के अर्थशास्त्र की सत्ता सिद्ध होती है। कुछ विद्वानों का मत है कि पहले कौटिलीय अर्थशास्त्र में केवल ६,००० श्लोक लिखे गए थे तथा इसमें गद्य नहीं था, परन्तु जब विष्णुगुप्त ने स्वयं अर्थशास्त्र के प्रारम्भ में यह लिखा है कि मैं सूत्र और भाष्य स्वयं बना रहा हूँ. फिर यह शङ्का करना व्यर्थ है। दूसरे, मि० काणे ने श्लोक का अर्थ बत्तीस वर्णोंका संघ किया है, और केवल छंदको ही श्लोक नहीं बतलाया है। अतः फिर श्लोकोंमें गद्य का समावेश स्वाभाविक है। फिर

यदि कुछ रूप-परिवर्तन आज दिखाई देता है तो कोई बड़ी बात नहीं। क्योंकि प्रायः सभी ग्रंथों में प्रक्षिप्त अंश मिलते हैं। फिर भी इसकी रचना-शैली को देखकर प्रक्षिप्त अंश का समावेश नहीं दिखाई देता।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र की रचना-शैली आपस्तम्बसूत्र, बौधायन-धर्म-सूत्र आदि सूत्र-ग्रंथों की शैली के अधिक निकट है। इसमें गद्य-पद्य दोनों का सम्मिश्रण है। गद्य और पद्य दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। इसके अलावा सूत्र तथा भाष्य दोनों एक ही लेखक के लिखे हुए हैं। वसे कहीं-कहीं भाष्य में उपनिषद् एवं ऊर्ध्वकालीन ब्राह्मणों की भाषा की सी प्रणाली दृष्टिगोचर होती है। ग्रन्थ में आदि से लेकर अन्त तक एक ही क्रम अपनाया गया है और समस्त ग्रन्थ पूर्व नियोजित योजना के आधार पर लिखा गया है। इस तरह समस्त ग्रन्थों में एक आश्चर्यजनक एकरूपता के दर्शन होते हैं। कुछ पद पाणिनि के व्याकरण से सम्मत नहीं हैं, जैसे औपनिषत्क के स्थान पर औपनिषदिक, रोचन्ते के स्थानपर रोचयन्ते और चातुराश्रिका के स्थान पर चतुराश्रिका पाठ मिलता है। परन्तु अधिकांश भाषा व्याकरण की दृष्टि से ठीक है। हो सकता है कि उपर्युक्त भूलें प्रतिलिपिकारों के प्रसाद का परिणाम हो। साथ ही कुछ पारिभाषिक शब्द ऐसे भी आये हैं जिनका ठीक अर्थ समझना सर्वथा कठिन है। भाषा में कहीं-कहीं आलंकारिक प्रयोग भी मिलते हैं।

सारा कौटिल्य-अर्थशास्त्र १५ बड़े-बड़े अधिकरणों तथा १८० प्रकरणों में विभक्त है। प्रथम अधिकरण में राजा की शिक्षा संबंधी बातों का उल्लेख है, साथ ही उसके कर्त्तव्यों का भी निर्देश किया गया है। एक राजा के लिए सांख्य, योग, लोकायत के दार्शनिक विचार, वेदांगों में वर्णित चारों वर्णों के कर्त्तव्य, देश की आर्थिक, राजनीतिक, तथा धार्मिक दशा, चरवाहों के कर्त्तव्य, व्यापार, उद्योग, नीति, दण्डनीति आदि का ज्ञान रखना आवश्यक है। इसके साथ ही राजा के आंतरिक एवं बाह्य कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए मंत्री एवं गुप्तचरों की नियुक्ति का वर्णन किया है। दूसरे अधिकरण में राजा की सेना के बारे में उल्लेख किया है। तीसरे अधिकरण में कानूनों का विस्तृत विवेचन है।

चौथे अधिकरण में पुलिस द्वारा धोखा-धड़ी करने वालों को पकड़ने तथा समस्त छल-कपट के कार्यों का उल्लेख है। पाँचवें अधिकरण में अपकारी मंत्री से राजा के बचने तथा कर-विधान एवं कोष में धन-संग्रह करने की विधियों का विवेचन है। छठे अधिकरण में राजनीति के सात अंगों का सम्यक् विवेचन किया है। अर्थात् राजा, मंत्री, भूमि, दुर्ग, कोष, सेना तथा धातु का विवरण दिया गया है। सातवें अधिकरण में शान्ति, युद्ध, तटस्थता, युद्ध की तैयारी, संधि, संदेहात्मक व्यवहार आदि के कारणों का उल्लेख है। आठवें अधिकरण में शिकार, जूआ, स्त्री, शराब, आग, पानी आदि द्वारा राजा को कैसी-कैसी विपत्तियों का सामना करना पड़ता है इन सभी बातों का वर्णन है। नवें अधिकरण में युद्ध के बारे में विवेचन किया गया है। दसवें अधिकरण में युद्ध विषयक शकुन आदि का वर्णन है। ग्यारहवें अधिकरण में स्त्री द्वारा शत्रु-विनाश का विवेचन है। बारहवें अधिकरण में शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए अनेक युक्तियाँ बतलाई गई हैं। तेरहवें अधिकरण में राजा को अपने शत्रु के नगर को जीतने के लिए किस प्रकार अपने को सर्वशक्तिशाली घोषित कराना चाहिए, इन सभी साधनों का उल्लेख है। चौदहवें अधिकरण में कुछ असाधारण बातों का वर्णन है कि कैसे एक व्यक्ति एक मास बिना भोजन किए रह सकता है, कैसे वह आग पर चल सकता है आदि। पंद्रहवें अधिकरण में कार्य-योजना का विस्तृत विवेचन है।

इस प्रकार सारे कौटिलीय अर्थशास्त्र में राजनीति एवं ब्राह्मणकालीन विचारों का प्राधान्य है। इस ग्रन्थ के रचयिता ने धर्म, अर्थ तथा काम को ही जीवन का उद्देश्य बतलाया है, इनमें से भी अर्थ पर सबसे अधिक जोर दिया है। इस लेखक को वेद, वेदांग, महाकाव्य, पुराण, इतिहास, आख्यायिका तथा विभिन्न धातु-विज्ञान, सेना-विज्ञान आदि का अच्छा ज्ञान था। साथही अपने पूर्ववर्त्ती कितनेही आचार्यों के मतोंको भी यह अच्छी तरह जानता था। क्योंकि मन्त्री-निर्वाचन के लिए इसमें भारद्वाज, विशालाक्ष, पाराशर, पिशुन, वात्तव्याधि, बाहुदंती-

पुत्र आदि के विचार दिये हैं तथा अन्त में बाहुदंतीपुत्र का निष्कर्ष स्वीकार किया है।

सारांश यह है कि चाणक्य ने अपना यह ग्रन्थरत्न लिखकर तत्कालीन राजनीति-विज्ञान के उत्कर्ष की सूचना दी है। इसमें प्राचीन भारत की सभ्यता तथा संस्कृति का वर्णन भी मिल जाता है। इस ग्रंथ से पूर्व भारतीयों को अन्य देशवासी केवल दार्शनिक विचारों के ज्ञाता ही मानते थे। अन्य सभी क्षेत्रों में भारत को असफल ही समझा करते थे, परन्तु अब सारा विश्व राजनीति एवं दर्शन दोनों में भारत को विशेष पण्डित समझने लगा है। इसमें राज्य-विषयक सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों का विवेचन अच्छी प्रकार मिलने के कारण भारतवासियों की शासन-व्यवस्था एवं राज्य चलाने की अपूर्व क्षमता को आज सभी स्वीकार करने लगे हैं। इस ग्रन्थ में राजा के विविध कर्त्तव्यों, गाँवों के बसाने की योजना, भूमि खेती तथा व्यापार की समस्याओं का सुन्दर विवेचन होने के कारण भारतवासियों के व्यवहारिक ज्ञान की महत्ता का पता चल जाता है। इसमें कलाओं एवं शिल्पों को समुन्नत बनाने की अनेक विधियाँ बतलाई गई हैं। मद्य इत्यादि नशीली वस्तुओं पर नियंत्रण रखने, जंगल और खानों से लाभ उठाने, सिंचाई के साधनों को अपनाने तथा दुर्भिक्ष के समय कार्यों में लगाने के लिए अनेक उपायों का उल्लेख किया है। इतना ही नहीं दण्ड-विधान तथा अन्य रीति-नीति संबंधी बातों का बड़े ही व्यावहारिक आचरण के आधार पर वर्णन किया है। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस अर्थशास्त्र में सिद्धान्त एवं क्रिया दोनों का सुंदर एवं सफल सामंजस्य है। यही कारण है कि इस ग्रंथ का महत्व आज अरस्तू आदि यूनानी दार्शनिकों के ग्रंथों से भी अधिक माना जाता है।

प्रश्न १८—अश्वघोष के ग्रन्थों की समीक्षा करते हुए उसकी रचना-शैली तथा भाषा की समालोचना कीजिए।

उत्तर—अश्वघोष एक बौद्ध भिक्षु थे। जनश्रुति के अनुसार ये

कनिष्क के समकालीन माने जाते हैं। तिब्बत, चीन और मध्य एशिया में फैलने वाले महायान सम्प्रदाय के प्रवर्तक नहीं तो ये एक बहुत बड़े आचार्य अवश्य थे। अश्वघोष के एक जीवन-चरित के आधार पर यह पता चलता है कि ये मध्यभारत के रहने वाले थे और पूज्य पार्श्व के शिष्य थे। इनकी माता का नाम सुवर्णाक्षी था। तिब्बती बुद्धचरित के आधार पर ये साकेत निवासी कहलाते हैं। इन्हें बौद्धधर्म में दीक्षित करने का श्रेय पूज्य पार्श्वजी को ही है। इनके बारे में एक जनश्रुति है कि इनका भाषण इतना मधुर होता था कि घोड़े (अश्व) भी चरना छोड़कर इनका भाषण सुनने लगते थे। कुछ लोगों का विचार है कि इन्हें पार्श्वजी के शिष्य पूर्णयशजी ने बौद्धधर्म में दीक्षित किया था और कनिष्क के राज्य-काल में जो बौद्ध संगीति संगठित की गई, उसके संचालन का भार अश्वघोष को ही सौंपा गया था। ये पहले सर्वास्तिकवादी दार्शनिक थे, परन्तु पीछे महायान शाखा के प्रवर्तकों में इनका नाम सर्व प्रथम लिया जाने लगा। ये उच्चकोटि के कवि तथा नाटककार थे। कनिष्क के समकालीन होने के नाते इनका समय ईस्वी की प्रथम शताब्दी ठहरता है। इन्हें आचार्य भदन्त की पदवी से भी विभूषित किया गया था। इत्सिंग के कथानानुसार ये उच्चकोटि के शिक्षक एवं उपदेशक थे।

अश्वघोष के अभी तक सात ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) गंडिस्तोत्रगाथा (२) सूत्रालंकार (३) बुद्धचरित (४) सौंदरानन्द (५) शारिपुत्रप्रकरण (६) बज्रसूचि (७) महायान श्रद्धोत्पाद इन समस्त ग्रन्थों में तीन प्रमुख माने जाते हैं जिनमें से दो महाकाव्य और एक प्रकरण है। दो महाकाव्यों के नाम बुद्धचरित तथा सौंदरानंद हैं तथा तीसरा शारिपुत्र प्रकरण प्रसिद्ध है। ये तीनों प्रमुख ग्रन्थ संस्कृत भाषा में ही लिखे गये हैं। इस तरह अश्वघोष संस्कृत-साहित्य के पुष्पोद्यान में एक परम लोचनासेचनक कुसुम तुल्य हैं और इनके इस यश का विस्तार करने वाले उक्त दोनों महाकाव्य तथा एक प्रकरण है।

बुद्ध चरित—यह अश्वघोष का अत्युत्तम महाकाव्य है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति शारदा लिपि में लिखी हुई मिली हैं, जिसमें तेरह

सर्ग पूर्ण तथा चौदहवें सर्ग के केवल चार पद्य मिले हैं। इस ग्रंथ का चीनी भाषा में भी लगभग ४१४-४२१ ई० के अन्दर अनुवाद हो गया था और इत्सिंग ने इसे अश्वघोष की रचना बतलाया है। इसका एक तिब्बती भाषा में भी अनुवाद मिला है, उससे पता चलता है कि बुद्धचरित में २७ सर्ग थे और बुद्ध जी के निर्वाण-काल तक कथानक चलता है। इत्सिंग के लेख से पता चलता है कि ईसा की छठी तथा सातवीं शताब्दी में बुद्धचरित का सारे भारतवर्ष के अन्दर पठन-पाठन होता था। यहाँ यह ग्रन्थ तो शारदा लिपि में लिखा हुआ १३ सर्ग पूरे तथा चौदहवें सर्ग के ४ श्लोकों में ही मिला है, परन्तु १९ वीं शताब्दी में श्री अमृतानन्द ने चौदहवें सर्ग के चौथे श्लोक से आगे कथा को जोड़ कर काव्य में बुद्ध के काशी के अन्तर्गत प्रथमोपदेश देने तक का वर्णन बढ़ा दिया है।

बुद्धचरित एक उच्चकोटि का महाकाव्य है। इसमें महाकाव्य के सभी मुख्य उपादान विद्यमान है—इसमें प्रेम कथा के दृश्य, नीतिशास्त्र के सिद्धान्त और सांग्रामिक घटनाओं के वर्णन भी हैं। कमनीय कामिनियों की केलियाँ, गृहपुरोहितों का सिद्धार्थ को उपदेश, सिद्धार्थ का मकरध्वज के साथ संग्राम आदि सभी दृश्य बड़ी विशद कल्पना एवं रमणीय शैली के अन्तर्गत अङ्कित हुए हैं। इस प्रकार गौतम बुद्ध की जीवन-गाथा भव्य रूप में यहाँ उपस्थित है। यद्यपि कवि अश्वघोष बौद्ध थे, फिर भी इन्होंने पुराण, इतिहास आदि ग्रन्थों का भी अच्छा अध्ययन किया था, क्योंकि बुद्धचरित में पौराणिक तथा अन्य हिन्दू कथाओं एवं हिंदू ग्रन्थों के परामर्शों की बहुलता है। जैसे, इसमें माया, सहस्राक्ष इन्द्र, पृथु, उद्दिवान्, वाल्मीकि, कौशिक, सगर, स्कंद, मानधाता, नहुष पुरुरवा, शिव-पार्वती आदि की कथायें आई हैं, साथ ही अतिथि-सत्कार आदि सनातनधर्म की सी रीतियों का उल्लेख भी मिलता है। उपनिषदों, भगवद्गीता, महाभारत और रामायण का भी उल्लेख इस महाकाव्य में मिलता है। इन सभी बातों के आधार पर यह स्पष्ट है कि कवि ने वैदिक तथा लौकिक सभी साहित्य का ज्ञान प्राप्त किया था।

बुद्धचरित में कालिदास के महाकाव्यों की अनेक बात मिल जाती हैं। जैसे, बुद्धचरित में जब सिद्धार्थ का जलूस पहली बार बाजार में होकर निकलता है, तब स्त्रियाँ उसे देखने केलिए अट्टालिकाओं एवं गवाक्षों में आकर इकट्ठी होजाती हैं। कालिदास कृत रघुवंश में भी रघु के नगर-प्रवेश के समय कालिदास ने ऐसा ही वर्णन किया है। ऐसे ही बुद्धचरित में सिद्धार्थ पर काम के आक्रमण का वर्णन वैसा ही है जैसा कि कुमार-सम्भव में शिव पर काम के आक्रमण का वर्णन मिलता है। दोनों में विचार एवं वर्णन की दृष्टि से अत्यन्त साम्य है। इतना ही नहीं बुद्धचरित में सोती हुई स्त्रियों का जो वर्णन मिलता है वह रामायण में आये हुए वर्णन से बिल्कुल मिलता-जुलता है। इस प्रकार बुद्धचरित पर उक्त ग्रन्थों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

यह सारा महाकाव्य वैदर्भी रीति में लिखा गया है। अतः विशदता एवं प्रांजलता स्वाभाविक रूप से विद्यमान है। इसमें लम्बे-लम्बे समास कहीं भी नहीं मिलते। भाषा सरल, सुन्दर, सौम्य एवं मधुर है। सर्वत्र प्रसाद गुण मिलता है। वर्णन अत्यन्त रोचक एवं प्रभावोत्पादक हैं। सभी स्थलों पर रस-परिपाक पूर्ण रूप से हुआ है। करुण-रस का वर्णन तो अत्यन्त हृदयद्रावक है। सिद्धार्थ के अभिनिष्क्रमण के अवसर पर यशोधरा, माया तथा शुद्धोदन के विलाप अत्यन्त मर्मस्पर्शी हैं। इस प्रकार समस्त महाकाव्य में अश्वघोष ने अपनी कुशल तूलिका से सुन्दर एवं सुमधुर तथा रसमय प्रसंगों का अभिराम चित्रण किया है।

सौन्दरानन्द—इसमें ऐतिहासिक महाकाव्य की पद्धति का अनुसरण करते हुए बुद्ध के सौतेले भाई नन्द और सुन्दरी की कथा दी गई है और यह बतलाया गया है कि बुद्ध ने नंद को, जो सुन्दरी के प्रेम में मग्न था, किस प्रकार अपने धर्म का अनुयायी बनाया। इसमें बीस सर्ग हैं, जो प्रारम्भ से अभी तक सुरक्षित हैं। अतः यह ग्रन्थ निस्संदेह अश्वघोष की ही कृति है।

सौंदरानन्द तथा बुद्धचरित में एक विशेष सम्बन्ध दिखाई देता है। ये दोनों महाकाव्य एक दूसरे के पूरक हैं। उदाहरण के लिए बुद्धचरित में कपिलवस्तु का वर्णन संक्षिप्त है, किन्तु सौंदरानन्द में विस्तृत है। ऐसे ही सौंदरानन्द में बुद्ध के संन्यास का वर्णन संक्षिप्त है, जबकि बुद्धचरित में विस्तृत मिलता है। ऐसे ही बुद्धचरित में नन्द के बौद्ध होने का वर्णन संक्षिप्त है, जबकि सौंदरानन्द में विस्तृत वर्णन मिलता है। इस काव्य में भी रामायण, महाभारत, पुराण आदि में वर्णित हिन्दू सिद्धान्तों का भी उल्लेख मिलता है। इस प्रकार दोनों महाकाव्यों में कितने ही पौराणिक आख्यान एकसे मिलते हैं। सौंदरानन्द में अपने से पहले के किसी काव्य का संकेत नहीं मिलता। इसीलिए प्रो० कीथ का मत है कि सौंदरानन्द अश्वघोष की प्रथम रचना है। परन्तु अन्य विद्वान इसके विपक्ष में कई पुष्ट प्रमाण देते हैं। "सूत्रालंकार" नामक ग्रन्थ में बुद्धचरित का नाम तो आया है, परन्तु सौंदरानन्द का नाम नहीं मिलता। बुद्धचरित में महायान का एक भी सिद्धान्त उपलब्ध नहीं होता, किन्तु सौंदरानन्द के अन्तिम भाग में कवि का महायान शाखा के सिद्धान्तों से परिचित होना ज्ञात होता है। ऐसे ही सौंदरानन्द में कवि दार्शनिक वादों का वर्णन करता है और बड़े कौशल के साथ बौद्ध सिद्धान्तों की शिक्षा देता है। इन सभी बातों के कारण सौंदरानन्द बुद्धचरित के उपरान्त लिखा गया प्रतीत होता है। साथ ही शैली की दृष्टि से भी सौंदरानन्द पीछे की ही रचना जान पड़ता है, क्योंकि इस महाकाव्य में अश्वघोष की अत्यन्त परिष्कृत एवं प्रांजल शैली के दर्शन होते हैं। साथ ही सौंदरानन्द की कविता अत्यन्त भावाक्षिप्त एवं व्यंजनापूर्ण है, जबकि बुद्धचरित में सीधा-साधा पद्यात्मक वर्णन ही मिलता है।

सौंदरानन्द का सर्वप्रथम प्रकाशन १९१० ई० में हुआ था। इस काव्य की तुलना टैनीसन के "इन मैमोरियम" से की जा सकती है। इसमें भी रस-परिपाक अच्छी तरह से हुआ है। करुणरस का वर्णन तो बड़ा ही हृदयद्रावक है। नन्द की पत्नी सुन्दरी का अपने पति के प्रव्रज्या ग्रहण करने पर विलाप करना तथा पत्नी के लिए नन्द का शोक प्रकट

करना अत्यन्त प्रभावोत्पादक है।

शारिपुत्र-प्रकरण—प्रो० लूडर्स को मध्य एशिया में कुछ ग्रन्थ प्राप्त हुए, जिनमें तीन नाटक भी थे, उन तीन नाटकों में से एक 'शारिपुत्र प्रकरण' है, जिसका पूरा नाम 'शारदवतीपुत्र प्रकरण' मिलता है। दस प्रकार के रूपकों में 'प्रकरण' भी एक प्रकार का रूपक ही होता है। यह प्रकरण अश्वघोष का लिखा हुआ ही माना गया है, क्योंकि ग्रन्थ के अन्त में सुवर्णाक्षीपुत्र अश्वघोष का नाम दिया हुआ है। दूसरे, इसमें एक पद्य अविकल रूप में बुद्धचरित का ही उद्‌धृत है। तीसरे, अश्वघोष के अपने 'सूत्रालङ्कार' ग्रन्थ में दो बार 'शारिपुत्र प्रकरण' का उल्लेख किया है। इस रूपक से पता चलता है कि किस प्रकार बुद्ध ने तरुण मौद्‌गल्यायन और शारिपुत्र को अपने धर्म का अनुयायी बनाया था। इस प्रकरण का कथानक बुद्धचरित में वर्णित कथा से कुछ भिन्न है, क्योंकि जैसे ही ये शिष्य गौतमबुद्ध के समीप आये, वैसे ही इनसे भविष्य-वाणी करदी थी।

यह प्रकरण संस्कृत के मृच्छकटिक तथा मालती माधव की ही भाँति लिखा गया है। इसमें ६ अङ्क हैं तथा यह नाट्यशास्त्र के अनुसार प्रकरण के समस्त अङ्गों से सुसज्जित है। इसका नायक शारिपुत्र धीरोदात्त है। इसमें बुद्ध तथा उनके शिष्य संस्कृत बोलते हैं तथा विदूषक और अन्य हीन पात्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करते हैं। ऐसे बौद्धधर्मानुयायी शारिपुत्र के साथ विदूषक के रखने से यह अनुमान होता है कि अश्वघोष के पूर्व ही संस्कृत नाटक का वह रूप स्थिर हो चुका था जो हमें बाद के साहित्य में मिलता है। नाटकीय नियमानुसार भिन्न-भिन्न पात्र सामाजिक स्थिति के आधार पर भिन्न-भिन्न प्राकृतों का प्रयोग करते हैं। 'दुष्ट' की प्राकृत मागधी से, 'गोयम' की अर्द्धमागधी से और विदूषक की प्राकृत उक्त दोनों के मिश्रण से मिलती-जुलती है।

'शारिपुत्र प्रकरण' के अतिरिक्त उक्त जो दो नाटक प्रो० लूडर्स को मध्य एशिया में और मिले हैं, वे खण्डित रूप में हैं और वे भी अश्वघोष के रचे हुए बतलाये जाते हैं। उनमें से एक में तो बुद्धि, कीर्ति, धृति

रंगमंच पर आती हैं और परस्पर वार्तालाप करती हैं। अतः वह एक प्रतीक नाटक हो सकता है। इनके अतिरिक्त अश्वघोष का 'सूत्रालङ्कार' ग्रन्थ भी प्रसिद्ध है। यह 'कल्पनामण्डनिका' भी कहलाता है। यह अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण अवस्था में मिला है, जिसका अनुवाद ह्यूबर ने फ्रेंच भाषा में किया था। इसमें सुन्दर कहानियों द्वारा बौद्धधर्म के सिद्धांतों को समझाया गया है। ये कहानियाँ गद्य-पद्य दोनों में हैं। इसकी शैली प्रौढ़ और परिमार्जित है। इसमें बौद्धधर्म के प्रचारार्थ कवि ने एक कहानी के घुमाने-फिराने में अपनी योग्यता का प्रदर्शन किया है। दूसरे 'महायानश्रद्धोत्पाद' नामक ग्रन्थ में महायान सम्प्रदाय के बाल्यकालीन सिद्धान्तों का निरूपण है। यह बौद्धों की प्रसिद्ध पुस्तक है। जनश्रुति के अनुसार सिद्धान्तों वाला संदर्भ अश्वघोष का माना जाता है। यदि जन-श्रुति ठीक है तो अश्वघोष एक बहुत बड़ा प्रकृति-विज्ञानशास्त्री भी था। तीसरे, 'वज्रसूचि' में ब्राह्मणों के चातुर्वर्ण्य सिद्धान्त का खण्डन किया गया है। चौथे, 'गंडिस्तोत्रगाथा' के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न छन्दों में सुन्दर पद दिये गए हैं। यह एक गीतिकाव्य है। इस ग्रन्थ से अश्वघोष के संगीत-विशेषज्ञ होने का प्रमाण मिलता है। साथ ही वह छन्द-शास्त्र का अच्छा ज्ञाता था यह भी पता चल जाता है। उक्त सभी ग्रन्थ बौद्धधर्म के प्रचारार्थ ही निर्मित हुए हैं।

अश्वघोष की शैली—पर विचार करते हुए पता चलता है कि यह कवि वैदर्भीरीति को ही सर्वत्र अपनाकर चला है। इसके ग्रन्थों की भाषा सुगम और सरल है तथा शैली परिष्कृत एवं विच्छित्तिशाली है। इसका शब्द-विन्यास सर्वत्र विशद एवं शोभायुक्त दिखाई देता है। कारण यह है कि इसकी रचनाओं का मुख्य उद्देश्य आकर्षित वेष में विभूषित करके बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का जन-जन में प्रचार करना था, इसी कारण शैली में सरलता के साथ माधुर्य विद्यमान है। अश्वघोष के ग्रंथों में कहीं भी दीर्घ-समास नहीं मिलते। इसकी समस्त रचनायें कृत्रिमता तथा अस्वाभाविता से सर्वथा दूर हैं। अश्वघोष ने तो गंभीर दार्शनिक

विचारों को भी अत्यन्त सरल भाषा में प्रगट किया है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित श्लोक को देख सकते हैं—

"दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेतिशान्तिम्।"

(सौंदरानंद १६-२८)

इस तरह इनकी भाषा में सरलता के साथ सुबोधता भी मिलती है। इनकी उपमायें बिल्कुल घरेलू हैं और शीघ्र ही समझ में आजाती हैं। कुछ विद्वानों की राय में तो अश्वघोष की उपमायें कालिदास से भी बढ़कर हैं। इसके समर्थन के लिए वे निम्नलिखित उपमाओं द्वारा दोनों महाकवियों की तुलना करते हैं—

कालिदास ने कुमारसंभव में पार्वती के लिए लिखा है कि—

"मार्गाचल व्यतिकराकुलितेव सिंधुः,
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ।

अर्थात् मार्ग में आए पर्वत से, क्षुब्ध नदी के समान पार्वती न चली न ठहरी। अब इसी प्रकार के भाव को व्यक्त करने वाली अश्वघोष की उपमा देखिए, जो "सौंदरानन्द" के चतुर्थ सर्ग के ४२ वें श्लोक में आई हैं—

"सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ,
तरंस्तरंगेष्विव राजहंसः।"

अर्थात् तरंगों में तैरते हुए राजहंस के समान वह अनिश्चय के कारण न गया न ठहरा।]

कुछ दूसरे विद्वानों का मत है कि तरंगों में तैरते हुए हंस का निश्चल कहना संदेहपूर्ण है। अतः पूर्णतया यह स्वीकार नहीं होता कि कालिदास की अपेक्षा अश्वघोष की उपमा उत्कृष्ट है। दूसरे राजा दिलीप का वर्णन करते हुए कालिदास लिखते हैं—

"व्यूढोरस्को वृषस्कन्ध शालप्रांशुर्महाभुजः" (रघु० १, १२)

और नन्द का वर्णन करते हुए अश्वघोष लिखते हैं—

"दीर्घबाहुर्महावक्षाः सिंहांसो वृषभेक्षणः।" (सौन्द० २, ५८)

उपर्युक्त युक्ति में बहुत कुछ साम्य होते हुए भी अश्वघोष की उपमा कालिदास की उपमा के समान हृदयस्पर्शी नहीं है। श्री चट्टोपाध्याय का तो यहाँ तक मत है कि "कालिदास ने यहाँ दिलीप की आँखों की ओर आँख उठाकर देखा ही नहीं, वह तो उसके कंधों को साँड़ की ठाट के तुल्य देख रहा है। बेचारे अश्वघोष ने कुछ भेद रखना चाहा और अपना भण्डा स्वयं फोड़ दिया।"

वैसे अश्वघोष ने सुन्दरी के सौंदर्य का वर्णन अत्यन्त सरलता के साथ बड़ा ही प्रभावपूर्ण किया है। आदर्श अनुराग के चित्रों में तो इस ने सजीवता उत्पन्न कर दी है। इतना होते हुए भी अश्वघोष अकृत्रिम एवं सुबोध यमकों का बड़ा प्रेमी है। जैसे--"उदारसंख्यैः सचिवैर-संख्यैः"। वह एक बहुत अच्छा वैयाकरण था। अतः उसने व्याक-रण के अप्रचलित प्रयोगों का भी प्रदर्शन किया है। जैसे उसने उपमा के द्योतक के तौर पर "अस्ति" निपात का प्रयोग किया है। सौंदरानन्द के द्वितीय सर्ग में लुङ् के प्रयोगों में पांडित्य दिखलाते हुए 'मा', 'मि' और 'मी' तीनों धातुओं से कर्मणि प्रयोग में सिद्ध होने वाले 'मीयते' पद का प्रयोग किया है। रामायण-महाभारत तथा अन्य बौद्ध लेखकों के प्रभाव से कहीं-कहीं व्याकरण विरुद्ध प्रयोग भी किए हैं जैसे "किम उत" के स्थान पर "किमुवत", "चेद्" के स्थान पर "सचेद्" का प्रयोग मिलता है। छन्दों के प्रयोग में अश्वघोष अत्यन्त सिद्धहस्त है और 'उद् गाता' जैसे कम प्रयोग में आने वाले छन्द का भी बड़ी सफलता के साथ प्रयोग कर के दिखाया है। कुछ भी हो, अश्वघोष की गणना संस्कृत के महाकवियों में है। वह महाकाव्य, नाटक, कहानी और गीति-काव्यों का निर्माता है। कालिदास और अश्वघोष के काव्यों में बहुत कुछ समानता तो मिलती है, परन्तु अभी तक यह निर्णय नहीं हो पाया है कि दोनों में से कौन पहले हुआ था। वैसे कुछ विद्वान् कालिदास से एक शताब्दी उपरान्त अश्वघोष का होना निश्चित करते हैं।

प्रश्न १६—महाकाव्यों की परम्परा में कालिदास, माघ तथा श्रीहर्ष के महाकाव्यों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।

उत्तर—महाकाव्य एक विशिष्ट गुण युक्त बृहत् आकार वाला ग्रन्थ होता है। वह कितने ही सर्गों में विभक्त रहता है। उसका नायक उदात्त-गुणों युक्त कोई कुलीन क्षत्रिय होता है। वीर, शृङ्गार अथवा शांतरस में से किसी एक रस की प्रधानता रहती है। अन्य रस गौणरूप से रहते हैं। कथानक इतिहास प्रसिद्ध होता है, अथवा किसी सज्जन का चरित वर्णन किया जाता है। प्रत्येक सर्ग की रचना एक ही प्रकार के छंद में होती है किंतु सर्ग के अंत में छन्द बदल जाता है। सर्गों की संख्या ८ या ८ से अधिक होती है और वे न अधिक बड़े और न अधिक छोटे होते हैं। सर्ग के अंत में आगामी कथानक को सूचना दीजाती है। महाकाव्य में संध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय, रात, प्रदोष, अंधकार, वन, ऋतु, समुद्र, पर्वत, नदी आदि प्राकृतिक पदार्थों का वर्णन होता है इत्यादि। महाकाव्य के ये सभी लक्षण महर्षि बाल्मीकि प्रणीत रामायण को देखकर लिखे गये हैं, क्योंकि वही संस्कृत-साहित्य का आदि महाकाव्य है। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार महाकाव्य वह है जो अनेक शताब्दियों में अनेक कवियों के प्रयत्न से विकसित होकर अपने वर्तमान रूप में आया हो। उसमें प्राचीन गाथाओं के आधार पर इतिवृत्त का निर्माण होता है। पाश्चात्य मतानुसार दो प्रकार के महाकाव्य होते हैं—विकसित महाकाव्य (Epic of Growth) तथा कलापूर्ण महाकाव्य (Epic of Art)। विकसित महाकाव्य की कोटि में 'इलियड' और 'ऑडेसी' आते हैं क्योंकि इनका निर्माण होमर ने अनेक गाथाओं के आधार पर किया है। दूसरे कला-पूर्ण महाकाव्य के अन्तर्गत वर्जिल का 'इनीड' आता है क्योंकि वह एक ही कवि ने अपनी काव्यकला के आधार पर गढ़ कर तैयार किया है। इस वर्गीकरण के आधार पर संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत रामायण महाकाव्य प्रथम कोटि में आता है तथा रघुवंश और शिशुपालबध दूसरी कोटि में आते हैं।

संस्कृत में महाकाव्यों की उत्पत्ति कब हुई इसका पता चलाना सर्वथा कठिन है। परन्तु भारतीय परम्परा के अनुसार महर्षि पाणिनि को संस्कृत का आद्य महाकाव्य रचयिता माना जाता है। उनके महाकाव्य का नाम 'जाम्बवती विजय' अथवा 'पाताल विजय' था। इसका परिचय अनेक ग्रन्थों में मिलता है। परन्तु आजकल यह महाकाव्य उपलब्ध नहीं है। क्षेमेन्द्र ने पाणिनि के उपजाति छन्दों की बड़ी प्रशंसा की है। बहुत से विद्वान् महाकवि पाणिनि को वैयाकरण पाणिनि से प्रथक् मानते हैं क्योंकि उनके श्लोकों में यत्रतत्र व्याकरण के नियमों की अवहेलना है। परन्तु राजशेखर ने व्याकरण रचयिता और जाम्बवन्ती विजय के निर्माता पाणिनि को एक ही माना है। पाणिनि के लगभग ५० श्लोक मिले हैं जो काव्य की दृष्टि से अत्यन्त सरस और नूतन अर्थ के द्योतक हैं। दूसरे वररुचि के एक महाकाव्य 'कण्ठाभरण' का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु वह काव्य भी आज उपलब्ध नहीं। ये वररुचि ईस्वी पूर्व चतुर्थ शतक में वर्त्तमान थे तथा अष्टाध्यायी के वार्तिक लिखने वाले कात्यायान से भिन्न न थे। वास्तव में देखा जाय तो लौकिक संस्कृति में महाकाव्यों के लिखने का श्रीगणेश महर्षि वाल्मीकि ने ही किया। वाल्मीकि हमारे आदि कवि हैं। उनका आदिकाव्य संस्कृत-भारती का अभिराम निकेतन है। सरसता एवं स्वाभाविकता की दृष्टि से तो वह अत्यन्त उत्कृष्ट माना जाता है। उसमें आन्तरिक एवं वाह्य प्रकृति के चित्रणों की भरमार है तथा प्राकृतिक वर्णनों में सर्वत्र विम्ब-ग्रहण प्रणाली का प्रयोग मिलता है। उनकी शैली "रसमय पद्धति" कहलाती है। रामायण के उपरांत यदि इस शैली का अनुकरण किसी महाकवि ने किया है तो वे हैं कविकुल-मुकुट—

श्री कालिदास

इनकी शैली में बाल्मीकीय शैली का उदात्त उत्कर्ष मिलता है। कालिदास श्रेण्य संस्कृत-साहित्य के अन्तर्गत सबसे बड़े कवि माने जाते हैं। इन्हें कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भारत का शेक्सपीयर भी कहा है।

परन्तु शेक्सपीयर को भारत का कालिदास कहना युक्तिसंगत दिखाई देता है। भारतीय विद्वानों में इनके काल-निर्णय के बारे में पर्याप्त मत भेद मिलता है। इनके काल की पर और अपर सीमाओं में पाँच सौ वर्षों का अन्तर पाया जाता है। यह विद्वान कवि अनेक विद्याओं, राजधर्म, ज्योतिष और काम शास्त्र का ज्ञाता था। इन्होंने नाटक, गीतकाव्य तथा महाकाव्य लिखे हैं। इनके मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, और अभिज्ञान शाकुंतल नामक तीन नाटक हैं; ऋतुसंहार और मेघदूत दो गीतिकाव्य हैं तथा कुमारसंभव तथा रघुवंश दो महाकाव्य हैं। इनकी सर्वाधिक ख्याति 'अभिज्ञान शाकुंतल' नामक नाटक से हुई। वैसे इनके सभी ग्रन्थ अत्यन्त उच्चकोटि के हैं। इनके हृदय में काव्य-कला को पुष्ट करने के लिए वाल्मीकि रामायण अधिक सहायक सिद्ध हुई है। इनको प्रेरणा एवं स्फूर्ति देने वाला एक मात्र ग्रन्थ रामायण ही है।

कालिदास के महाकाव्यों में "कुमारसंभव" का निर्माण पहले हुए था। इसमें आजकल १७ सर्ग मिलते हैं। विद्वानों की राय है कि कालिदास ने केवल ८ सर्ग ही लिखे थे। शेष ९ से १७ सर्ग तक का निर्माण बाद में किसी और लेखक ने किया है। कारण यह है कि अन्तिम ९ सर्गों की शैली एवं वर्णन प्रणाली में प्रथम आठ सर्गों की अपेक्षा अधिक अन्तर मिलता है। दूसरे, कालिदास के ग्रन्थों पर टीका लिखने में प्रसिद्ध मल्लिनाथ ने भी केवल ८ सर्गों को ही प्रामाणिक मानकर उन पर ही टीका लिखी है। इस महाकाव्य में शिव-पार्वती के पुत्र कुमार कार्तिकेय के जन्म का वर्णन है, जिसने देवताओं के पीड़क और संसार के प्रत्येक रम्य पदार्थ के ध्वंसक तारक दैत्य का बध किया था। प्रथम सर्ग में हिमालय का वर्णन अत्यन्त रमणीक है। दूसरा महाकाव्य "रघुवंश" के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें १९ सर्ग हैं और विद्वानों की राय है कि इस महाकाव्य का निर्माण कवि की प्रौढ़ावस्था में हुआ होगा, क्योंकि इसमें शैली की उत्कृष्टता एवं अधिक वर्णन-कौशल मिलता है। इसका कथानक रामायण एवं पुराणों से लिया गया है।

यह ग्रन्थ महाराज दिलीप के वर्णन से प्रारम्भ होकर अग्निवर्ण तक अनेक इक्ष्वाकुवंशियों के चरित्र-चित्रण को उपस्थित करता है। प्रमुख रूप से रघु तथा राम का उदात्त चरित्र कितने ही सर्गों में वर्णित है।

महाकवि कालिदास की कविता में माधुर्य का मधुर निवेश, प्रसाद की स्निग्धता, पदों की सरस शैय्या, अर्थ का सौष्ठव, अलंकारों का मंजुल रसमय प्रयोग आदि समस्त उन्नत काव्य की विशेषतायें विद्यमान हैं। कालिदास देववाणी के शृंगार एवं संस्कृत साहित्य के प्रतिनिधि कवि हैं। आपके महाकाव्यों में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का सफल चित्रण मिलता है। अपने उदार एवं उन्नत हृदय को संसार के वास्तविक व्यवहारों के बीच रखकर जो संवेदना आपने प्राप्त की है उसकी अभिव्यंजना आपके महाकाव्यों में मिलती है। आपकी कविता सच्चे हृदय के मार्मिक उद्गारों का समुच्चय है। आपकी रचनायें सभी लोकप्रिय हैं। उसका कारण यह है कि भारतीयता का विशुद्ध रूप आपके समस्त ग्रन्थों में विद्यमान है। आपका प्रकृति-चित्रण अत्यन्त सजीव है। मनुष्य तथा प्रकृति दोनों का मंजुल सम्पर्क तथा अद्भुत एकरसता दिखलाकर कवि ने प्रकृति के भीतर स्फुरित होने वाले हृदय को पहुँचाना है। आपका कुमारसंभव के अन्तर्गत हिमालय वर्णन तथा रघुवंश के अन्तर्गत तपोवन एवं त्रिवेणी का वर्णन आपकी उर्वर कल्पना के साथ-साथ सूक्ष्म-निरीक्षण-शक्ति का परिचायक है। मेघदूत तो आपकी अद्भुत प्रतिभा द्वारा अङ्कित भारतश्री का एक अनुपम एवं सरस चित्रण है। ऋतुसंहार में आपने सभी ऋतुओं का सम्यक् एवं सफल चित्र सजीवता के साथ अङ्कित किया है। कालिदास ने अपने समस्त चित्रणों द्वारा मानव जीवन के आदर्श की स्थापना की है। उनके महाकाव्यों का एकमात्र यही संदेश है कि त्याग, तपस्या और तपोमय जीवन द्वारा मानव कल्याण प्राप्त कर सकता है। उनका यह संदेश 'तीन तकरादि' शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है—त्याग, तपस्या और तपोवन। तपोवन में पली सभ्यता ही मानवों का सच्चा मङ्गल कर सकती है। क्षुद्र स्वार्थ का निवारण त्याग से होता है और सच्ची उन्नति तपस्या के बल

पर हो सकती है। संसार में आकर विषयों का दास बनना मानव-जीवन का उद्देश्य नहीं है, प्रत्युत आध्यात्मिक जीवन में ही सच्ची आत्मा के दर्शन होते हैं और उसीसे निश्रेयस् की प्राप्ति होती है।

माघ

महाकवियों की परम्परा में महाकवि माघ का स्थान भी अत्यन्त उच्च है। माघ की कीर्तिलता एक ही महाकाव्य पर अवलम्बित है। वह काव्य "शिशुपालबध" या "माघकाव्य" कहलाता है। महाकवि माघ के काव्य के बारे में प्रायः संस्कृत के आचार्यों का मत है कि—काव्येषु माघः, राजसु रामः, नगरीषु लंका, पुरुषेषु विष्णुः, कविषु कालिदासः।" अर्थात् माघ का शिशुपालबध श्रेष्ठ काव्य माना गया है। इसके साथ ही "उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्। नैषधे पद-लालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः" इस कथन के आधार पर भी माघ का स्थान अत्यन्त उत्कृष्ट दिखाई देता है। कुछ भी हो संस्कृत के प्रमुख पाँच महाकाव्यों में माघ के शिशुपालबध की भी गणना होती है। उन पाँच महाकाव्यों के नाम इस प्रकार हैं—रघुवंश, कुमारसंभव, किराता-र्जुनीय, शिशुपालबध और नैषध चरित।

महाकवि माघ ने अपने जीवन के बारे में अपने काव्य में कुछ संकेत दिए हैं, जिनके आधार पर पता चलता है कि यह कवि दन्तक का पुत्र तथा सुप्रभदेव का पौत्र था। सुप्रभदेव गुजरात के महाराजा वर्मलात के प्रधान मंत्री थे। माघ का जन्म गुजरात के प्रसिद्ध नगर भीनमाल में हुआ था। शिशुपालबध में आश्रयदाता राजा के कितने ही नाम मिलते हैं, जैसे धर्मनाथ, धर्मनाभ, धर्मलाभ, धर्मनात, वर्मलात, वर्मनाभ; निर्मलान्त आदि। अतः शिशुपाल बध के आधार पर राजा का ठीक निर्णय नहीं होता। हाँ प्रभावचरित में इस राजा का नाम स्पष्ट ही वर्मलात दिया हुआ है। अतः यही ठीक दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त बल्लाल मिश्र द्वारा रचित "भोज-प्रबन्ध" तथा जैन मेरुतुंगाचार्य द्वारा लिखित "प्रबन्धचिंतामणि" में भी इसका वर्णन

आया है। इसके काव्यगत प्रयोगों को देखकर यह ज्ञात होता है कि यह एक अच्छा वैय्याकरण, नीतिशास्त्रज्ञ एवं प्रतिभाशाली कवि था। साथ ही सांख्य, वेदान्त, योग आदि दर्शन, उपनिषद्, स्मृतियाँ, पुराण तथा महाकाव्यों का भी इसने अच्छा अध्ययन किया था। इसका कविताकाल ६७५ ई० के लगभग माना जाता है, क्योंकि इसने अच्छा अध्ययन किया था। महाभाष्य तथा काशिका-वृत्ति के साथ-साथ 'न्यास' का भी उल्लेख किया है और न्यासकार ६५० ई० के लगभग हुआ था। अतः माघ का समय सातवीं शताब्दी का अन्तिम भाग मानना ही न्याय संगत है।

माघ ने शिशुपाल-बध नामक महाकाव्य की रचना २० सर्गों में की है। इसमें युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ समाप्त होजाने पर श्रीकृष्ण द्वारा शिशुपाल के बध का वर्णन है। दण्डी के साहित्यदर्पण में महाकाव्य के जो-जो लक्षण दिये हैं वे सभी इस महाकाव्य में विद्यमान हैं। इसकी कथावस्तु महाभारत से ली गई है। श्रीकृष्ण के जीवन की प्रसिद्ध घटना इसमें अङ्कित है। इसके २० सर्गों में से प्रत्येक सर्ग में ५० से लेकर १५० तक श्लोक मिलते हैं। एक सर्ग में एक प्रकार के छन्द का ही प्रयोग किया है और अन्त में प्रत्येक छन्द बदलता रहा है। केवल चतुर्थ सर्ग में विभिन्न प्रकार के छन्द मिलते हैं। स्थान-स्थान पर प्रकृत्ति-चित्रण भी अत्यन्त सजीव मिलते हैं। जैसे चतुर्थ सर्ग में रैवतक पर्वत का वर्णन, छठे सर्ग में षट् ऋतु वर्णन, सातवें तथा आठवें सर्ग में पुष्प-चयन एवं जलक्रीड़ा का वर्णन तथा नवें सर्ग में समुद्र के ज्वार-भाटे तथा चन्द्रोदय आदि के बड़े सजीव वर्णन मिलते हैं। ग्यारहवें सर्ग में उषा का अत्यन्त भव्य वर्णन है। द्वारका-नगरी तथा युद्ध सम्बन्धी वर्णन भी अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। श्रीकृष्ण तथा शिशुपाल के युद्ध का वर्णन अत्यन्त प्रभावशाली है। वैसे काव्य का निर्माण केवल संस्कृत-महाकाव्य के नियमानुसार अधिक किया गया है और इसी कारण वर्णनों में मंथरता दिखाई देती है। फिर भी कवि ने कार्य-संकलन (Unity of action) की ओर विशेष ध्यान दिया है। सारा कथानक

वैसे तो महाभारत से ही लिया गया है, परन्तु कवि ने अपनी प्रतिभा द्वारा, उसमें सुन्दर कथोपकथनों का निर्माण करके महाकाव्य में उत्कृष्टता उत्पन्न कर दी है। कुछ वर्णन कल्पना-प्रसूत भी हैं। श्रीकृष्ण नारद सम्वाद, श्रीकृष्ण, उद्धव तथा बलराम के वाद-विवाद आदि को कवि ने महाकाव्य की भूमिका के रूप में लिखा है। अन्तिम सर्गों में मूल कथा के अन्तर्गत कुछ परिवर्तन भी प्रस्तुत किये हैं, जिनसे महाकाव्य में सजीवता आगई है।

महाकवि माघ कृत्रिम एवं आडम्बरपूर्ण कलात्मक कविता के युग में उत्पन्न हुआ था तथा यह स्वयं भी इस कलात्मक कविता के युग का निर्माता था। यह कविता-युग ३०० वि० से ११०० वि० तक रहा। इस युग में कल्पना की उच्च उड़ान, कृत्रिमता एवं वर्णन-कौशल की प्रबलता तथा दूरारूढ़ भावना का ही बोलबाला था। इस युग के सभी कवि सरलता, स्वाभाविकता तथा सुबोधता से सर्वथा दूर रहकर चमत्कारपूर्ण शैली में कल्पना की उच्च उड़ान दिखाया करते थे। केवल भलाई इतनी ही थी कि पौराणिक गाथाओं का योग सभी काव्यों में रहता था। सभी महाकाव्य या खण्ड-काव्य काव्य-शास्त्रों में वर्णित सिद्धान्तों के आधार पर ही लिखे जाते थे और उनमें अलङ्कारों एवं छन्दों के महत्व का प्रतिपादन अधिक रहता था। इस प्रकार इस कलात्मक युग की कविता सरलता से दूर हटकर दुरूहता, कला-प्रियता तथा क्लिष्टता की ओर उन्मुख होगई थी। अब काव्यों में कालिदास की सी सुबोधता एव सरसता शेष नहीं रही थी और कृत्रिमता ने अपना सिक्का जमा लिया था इस कृत्रिमता का इतना बोलबाला था कि खड्गबंध, पद्मबंध, गोमूत्रिका-बंध आदि बनाये जाते थे और वर्णनकी नयी-नयी प्रणालियों का प्रयोग करते हुए अतिशयोक्ति द्वारा कविताओं में भी कलाबाजी दिखाई जाती थी और इसीसे उन्हें प्रशंसा तथा मान प्राप्त होता था। महाकवि माघ पर भी इस युग का पूर्ण प्रभाव पड़ा। माघ से पहले महाकवि भारवि ने ही इस दूरारूढ़ कल्पनायुक्त आडम्बरपूर्ण शैली में महाकाव्य लिखने का श्रीगणेश करदिया था। उनका ध्यान कथावस्तु की अपेक्षा काव्य के

विन्यास पर अधिक रहता था और उनकी कविता में भाषा पर विचार अपना पूर्ण अधिकार रखते थे। माघके समय में भारवि की बड़ी ख्याति थी। माघ ने भारवि पर विजय प्राप्त करने के लिए ही अपना महाकाव्य लिखा और ऐसा कहा जाता है कि यह अपने इस कार्य में सफल भी हुआ। विद्वानों का मत है कि कवि ने 'माघ' नाम भी 'भारवि' को नीचा दिखाने के लिए ही रखा था क्योंकि माघ अर्थात् शीतकाल, भारवि अर्थात् 'सूर्य के प्रकाश' का हरण करलेता है।

माघ की कवित्व-शैली अनुपम है। उसमें कृत्रिमता, समासों की बहुलता, विकट वर्णों की उदारता, प्रगाढ़ बन्धों की मनोहरता आदि अपने भव्य रूप में विद्यमान हैं। माघ ने चित्रालङ्कारों की कृत्रिम शैली का खूब प्रयोग किया है, जिससे कहीं-कहीं काव्य को समझना सर्वथा दुष्कर होगया है। अनेक छन्दों की रचना केवल दो अक्षरों में की है, जैसे 'ज' और 'र' से निर्मित निम्नलिखित श्लोक देखिए:—

राजराजी रुरोजाजे राजिरेऽजोऽजरोऽरजाः।
रेजारिजूरजोर्जार्जी रराजर्जुरजर्जुरः॥

इसके साथ ही श्लेषालङ्कार भी अधिक प्रयुक्त हुआ है। वैसे प्राकृतिक एवं मानवीय जीवन के वर्णनों की छटा भी अद्भुत है। प्रकृति-चित्रणों में स्वाभाविकता के साथ-साथ प्रकृति-पर्यवेक्षण शक्ति भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है। रैवतक पर्वत, ऋतु, जलक्रीड़ा, चन्द्रोदय आदि का वर्णन परम्परागत होते हुए भी अद्भुत है। माघ का शब्द-भण्डार अत्यन्त वृहद् था। संस्कृत भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था। उनके काव्य में नवीन शब्दावली सर्वत्र उपलब्ध होती है। "नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते"—अर्थात् माघ के नवसर्गों को पढ़जाने पर और कोई नया शब्द नहीं मिलता—यह मत संस्कृत के प्राचीन विद्वानों का है जो माघ की भाषा सम्बन्धी अलौकिक जानकारी का द्योतक है।

इस प्रकार माघ की अद्वितीय प्रतिभा एवं अध्ययनशीलता का पूर्ण परिचायक शिशुपाल-बध संस्कृत-साहित्य का उत्कृष्ट महाकाव्य है। इसी एक काव्य द्वारा माघ ने उच्चकोटि की ख्याति प्राप्त की है। इसका कारण

यह है कि माघ ने अपने युगकी प्रचलित समस्त प्रणालियों को अपनाया है, तत्कालीन कविता-लेखन-पद्धति को मान्यता दी है और कथानक की अपेक्षा काव्य की बाह्य साज-सज्जा में अधिक समय व्यय किया है। इसके साथ ही घटनाओं के चित्रण की अपेक्षा विवरण अधिक लिखे हैं। इसी कारण इसकी कविता भारवि की अपेक्षा अधिक कृत्रिम, कलात्मक तथा आडम्बरपूर्ण मानीजाती है। वैसे पांडित्य एवं प्रतिभा में माघ अद्वितीय कवि हैं। यह काव्य-शैली का विस्तारक तथा विचारों की उच्चता, कल्पना की उड़ान तथा दूरारूढ़ भावना-सम्पन्न कविता का समर्थक है।

श्रीहर्ष

श्रीहर्ष ने भी अपने जीवन का परिचय अपने प्रसिद्ध महाकाव्य "नैषधीय चरित" में दिया है। इस महाकाव्यके आधार पर पता चलता है कि इनके पिता का नाम श्रीहरि तथा माता का नाम मामल्लदेवी था। ये कन्नौज के राजा जयचंद के दरबार में रहा करते थे। राजा जयचंद का राज्यकाल ११६८ ई० से ११९५ ई० तक माना जाता है। अतः श्रीहर्ष का समय भी १२ वीं शताब्दी ठहरता है। इनकी ख्याति का प्रसार काश्मीर में अधिक हुआ ; कारण यह है कि उस समय काश्मीर देश ही संस्कृत का केन्द्र था। इनकी प्रशंसा वैसे यहाँ पर भी अत्यधिक मिलती है। कुछ विद्वानों की राय में तो श्रीहर्ष, माघ तथा भारवि से भी बढ़े-चढ़े थे और उन्होंने यहाँ तक लिख डाला है—"उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः।" अर्थात् नैषध-काव्य के सम्मुख माघ तथा भारवि के महाकाव्य कहीं नहीं ठहरते। कहते हैं कि इन्हें 'चिन्तामणि' मन्त्र सिद्ध था। भगवती त्रिपुरा की आराधना करके आपने अखण्ड-पांडित्य का वरदान प्राप्त किया था। प्रसिद्धि है कि ये मम्मटाचार्य के भानजे थे और कहाजाता है कि एक विशिष्ट पण्डित एवं प्रसिद्ध नैय्या-यक मिथिला वासी उदयनाचार्य से इनके पिता श्रीहरि शास्त्रार्थ में हार गये थे। मरते समय वे अपने पुत्र श्रीहर्ष से कह गये कि मुझे उदयना-चार्य से पराजित होने का बड़ा खेद है, यदि तुम सुपुत्र हो तो उस पंडित

को शास्त्रार्थ में अवश्य पराजित करना। प्रसिद्ध है कि श्रीहर्ष ने प्रकांड पांडित्य प्राप्त करके 'खण्डनखण्डखाद्य' नामक एक ग्रन्थ लिखा और उसी के द्वारा राजा जयचन्द के दरबार में अपने पूज्य-पिता को परास्त करने वाले नामी तार्किक-प्रकाण्ड उदयन का भी मद चूर्ण कर दिया। इतने विद्वान एवं पण्डितप्रवर कवि के उपरांत ८५० वर्षों में केवल पण्डित-राज जगन्नाथ को छोड़कर और कोई भी संस्कृत का महाकवि नहीं हुआ।

श्रीहर्ष केवल पण्डित-कवि ही न थे, अपितु एक प्रचंड साधक तथा समुन्नत योगी भी थे। चिन्तामणि मन्त्र की सिद्धि के लिए भगवती त्रिपुरा को प्रसन्न करने के लिए आपने योग की भी साधना की थी। आपने लगभग ६ ग्रन्थों का निर्माण किया है, जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—स्थैर्य-विचारण-प्रकरण, विजय-प्रशस्ति, खण्डनखण्डखाद्य, गौडोर्वी-शकुल प्रशस्ति, अवर्णवर्णन, छिंद-प्रशस्ति, शिवशक्ति-सिद्धि, नवसाहसांक चरित चम्पू, नैषधीयचरित। परन्तु इनकी ख्याति विशेषरूप से दो ग्रन्थ-रत्नों के कारण ही है और उनके नाम हैं नैषधीय चरित तथा खण्डन-खण्डखाद्य। प्रथम तो महाकाव्य है, किन्तु दूसरा वेदान्त का ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ जैसा कि पहले कहा जा चुका है अपने पिता को पराजित करने वाले नैय्यायिक उदयनाचार्य को पराजित करने के लिए लिखा गया था। इसमें नैयायिकों की तार्किक प्रणाली का अनुसरण करते हुए विद्वान् लेखक ने न्याय के सिद्धान्तों का खण्डन तथा अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों का मण्डन किया है। अन्य ग्रन्थों का उतना आदर नहीं है।

श्रीहर्ष की प्रसिद्धि का मुख्य ग्रंथ "नैषधीय चरित" है। यह महा-काव्य निषध देश के राजा नल का इतिवृत्त लेकर लिखा गया है। इसमें २२ सर्ग हैं और कुल २८३० श्लोक हैं। राजा नल की कथा का इसमें सांगोपांग वर्णन मिलता है। इसमें कवि ने राजा नल के वर्णन से प्रारम्भ करके नल दमयन्ती के प्रथम रात्रि का रुचिर वर्णन कर ग्रंथ को समाप्त कर दिया है। यह कथा पौराणिक है। इस काव्य को श्रीहर्ष ने स्वयं "शृङ्गारामृत शीतगुः" अर्थात् शृंगार रूपी अमृत का चन्द्रमा बतलाया है। इसमें काव्य-सौंदर्य तथा शोभातिशायी अलंकारों का मणि-

कांचन संयोग सर्वत्र मिलता है। इस महाकाव्य की कविता में भावों का समुचित निर्वाह, सुन्दर पदविन्यास, कल्पना की उच्च उड़ान तथा प्रकृति चित्रण की सजीवता स्थल-स्थल पर मिलती है। कवि की उर्वर-प्रतिभा को नाना-स्थलों पर नूतनता प्रदर्शन करने का अवसर मिलता है। एक ही विषय का कितने ही श्लोकों में भिन्न-भिन्न प्रणाली से वर्णन मिलता है और सर्वत्र नवीन शब्दावली एवं अभिनव पद-शय्या की छटा विद्यमान है। सर्वत्र शब्द और अर्थ का सफल एवं सुन्दर सामंजस्य मिलता है। अतिशयोक्ति, उपमा, रूपक, यमक, विरोधाभास, श्लेष तथा अनुप्रास आदि अलंकारों के प्रयोग में तो श्रीहर्ष ने अपना अपूर्व कौशल दिखलाया है और शृङ्गार-रस की मधुर-व्यंजना में विलक्षण सहृदयता का परिचय दिया है, जैसे दमयंती का सौंदर्य-वर्णन करते हुए कवि कहता है—

"हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगंभीरखनीखनीलिमा॥"

अर्थात् दमयन्ती के मुख की रचना करने के लिये ब्रह्मा ने चन्द्रमंडल के सार भाग को काट लिया है अतः चन्द्रमा के मध्य में जो छिद्र बन गया है उसी के द्वारा अत्यन्त नील आकाश की नीलिमा दीख पड़ती है। ये कलंक क्या हैं? नभोमण्डल की नीलमा दिखाने वाले छेद हैं। इसी प्रकार दमयन्ती के स्तनों का वर्णन है। कवि ने अपने महाकाव्य की कथा में विस्तार अधिक किया है और मुख्य विषय की ओर ध्यान न देकर, आनुषंगिक विषयों का ही चित्रण अधिक किया है, जिससे सारे काव्य में कृत्रिमता अधिक आगई है। द्वितीय सर्ग में कवि हंस के मुख से दमयंती का वर्णन कर चुका है, परन्तु फिर भी उसे संतोष नहीं और सातवें सर्ग में पुनः दमयन्ती के नख-शिख का वर्णन करता है। महाभारत में नल-दमयन्ती के प्रेम का वर्णन अत्यन्त पवित्र एवं सात्विक रूप में मिलता है, परन्तु श्रीहर्ष ने अपने नैषधीय चरित में आकर उसे अत्यधिक विलास-वासना से रंग दिया है। किंतु महाभारत में नल के

निर्वासित जीवन की जिन कारुणिक एवं मार्मिक दशाओं का वर्णन मिलता है, उनका उल्लेख तक यहाँ नहीं मिलता। नैषध की विलास-वाटिका में जीवन के जटिल वट-वृक्षों को कोई स्थान ही नहीं था।

नैषधीय चरित का नाम महाकव्यों की "बृहत्त्रयी" में आता है। वैसे पद-विन्यास एवं छंद-कौशल में तो यह महाकाव्य अद्वितीय है। प्रकृति-चित्रण में पक्षियों की स्वाभाविक चेष्टाओं का सुन्दर वर्णन इसी महाकाव्य में मिलता है। मनोभावों के दिग्दर्शन में भी श्रीहर्ष ने सिद्ध-हस्तता का परिचय दिया है। शब्दों के प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष के विपर्यास से इस महाकाव्य की कविता का प्रभाव द्विगुणित होगया है। यहाँ पर शास्त्रकारों पर भी बड़ी मीठी चुटकियाँ ली हैं, जैसे पाणिनी की अष्टाध्यायी के "अपवर्गे तृतीया" सूत्र की मजाक उड़ाई है कि अपवर्ग तो नपुंसकों के लिए है। श्रीहर्ष दार्शनिक भी थे। अपने महाकाव्य के १७ वें सर्ग में दार्शनिकता का वर्णन बड़ी विद्वत्ता के साथ किया है, वैसे अन्य सर्गों में भी इनका दर्शन-ज्ञान स्पष्ट झलकता रहा है। इन्होंने श्लेष काव्य लिखने में तो ऐसा कौशल प्रकट किया है जो सर्वथा अद्भुत एवं अद्वितीय है। तेरहवें सर्ग में "पंचनली" के अन्तर्गत कवि ने श्लेष द्वारा एक ही पद्य में पाँचों नलों का वर्णन किया है। इसका वर्णन-कौशल तथा अर्थ-गांभीर्य अनुपम है। अपने काव्य के लिए स्वयं श्रीहर्ष ने 'महाकाव्य', 'चारु', "निसर्गोज्ज्वल" 'नव्य', 'अतिनव्य' आदि कहा है। आत्मश्लाघा की पराकाष्ठा तो वहाँ है जहाँ श्रीहर्ष ने अपने को अमृत आदि चौदह रत्नों को उत्पन्न करने वाला क्षीर सागर बतलाया है और शेष कवियों को दो-चार दिन में सूख जाने वाली नदियाँ उत्पन्न करने वाले छोटे-छोटे पर्वत कहा है।

इनके काव्य में कृत्रिमता एवं आडम्बर प्रियता के अतिरिक्त मानव-जीवन की समग्रता का अङ्कन नहीं मिलता। केवल शृङ्गार का एक-देशीय चित्रण अधिक है। चरित्र-चित्रण तथा कथानक की कलात्मक सृष्टि के नाते भी श्रीहर्ष निपुण नहीं दिखाई देते। इनमें मौलिक भावों का अभाव है। अतः एक ही भाव भिन्न-भिन्न शब्दों में कितने ही बार

दुहराया गया है। सर्वत्र दूरारूढ़ कल्पना एवं अत्युक्ति की ही प्रबलता है और कृत्रिमता के कारण काव्य जटिल होगया है। कहीं-कहीं पर अश्लीलता भी आगई है। काव्य को जटिल बनाने का प्रयोजन श्रीहर्ष ने अन्त में स्वयं इस प्रकार व्यक्त किया है—

"ग्रन्थ ग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्यया
प्राज्ञं मन्यमना हठेन पठिती मास्मिन्खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय—
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः।

अर्थात् पण्डित होने का दर्प करने वाला कोई दुःशील मनुष्य इस काव्य के मर्म को हठपूर्वक जानने का चापल्य न करे, इसलिए हमने जान बूझकर कहीं-कहीं इस ग्रन्थ में ग्रन्थियाँ लगादी हैं। जो सज्जन भक्ति एवं श्रद्धा पूर्वक गुरु को प्रसन्न करके इन गूढ़ ग्रंथियों को सुलझा लेंगे, वे ही इस काव्य के रस की लहरों में हिलोरे ले सकेंगे।

प्रश्न २०—संस्कृत-साहित्य के अन्तर्गत गद्य के विकास की विस्तृत व्याख्या कीजिए।

उत्तर—संस्कृत-साहित्य के अन्तर्गत गद्य का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से मिलता है। कृष्ण-यजुर्वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ तथा उपनिषद् आदि अधिकांश वैदिक साहित्य गद्य में ही है। इसके उपरान्त महाभारत के अन्तर्गत भी गद्य का प्रयोग मिलता है। लगभग ७०० ई० पू० यास्क मुनि ने अपना 'निरुक्त' भी गद्य में ही लिखा था। पंतजलि का महाभाष्य गद्य में ही लिखा गया है। ओल्डनवर्ग का तो यहाँ तक कहना है कि ऋग्वेद के अन्तर्गत भी पहले गद्य विद्यमान था, परन्तु कालान्तर में गद्य-भाग के विस्मृत होजाने के कारण कंठाग्र करने की सुविधा से केवल पद्य ही शेष रह गया, जो ऋग्वेद संहिता में सुरक्षित है। अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि के लि ओल्डनवर्ग ने आइरिश तथा स्कैंडेनेवियन काव्यों से उदाहरण प्रस्तुत किये हैं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों

बौद्ध साहित्य आदि की गद्यपद्यात्मक प्रवृत्ति के आधार पर ऋग्वेद में भी पहले गद्य-पद्य दोनों का सम्मिलित प्रयोग सिद्ध किया है। यद्यपि उसका यह सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं हुआ, परन्तु उसने गद्य का विकास ऋग्वेद से ही माना है।

संस्कृत साहित्य में काव्यात्मक गद्य का विकास कब और कैसे हुआ यह खोज करना सर्वथा असम्भव है। आजकल सुमधुर गद्य का स्वरूप केवल दण्डी, सुबंधु तथा बाण की कृतियों में ही दिखाई देता है और वह भी पूर्ण विकसित रूप में यहाँ विद्यमान है। इनके ग्रन्थों में व्यवहृत प्रौढ़ एवं प्रांजल गद्य के स्वरूप को देखकर यह पता चलता है कि इनसे पूर्व गद्य के लेखक और भी रहे होंगे, परन्तु आज वे सभी अन्धकार के गर्त में हैं। कुछ तो विदेशियों द्वारा संस्कृत ग्रन्थों का विनाश होजाने के कारण भी गद्य-ग्रन्थ नहीं मिलते, क्योंकि पद्य-ग्रन्थ तो कण्ठाग्र रहने के कारण कुछ सुरक्षित रह गये, परन्तु गद्य-ग्रन्थ सर्वदा के लिए विध्वंस होगये।। कात्यायन ने ३०० ई० पू० अपने वार्तिक में आख्यायिका का उल्लेख किया है, जो स्यात् गद्य में ही लिखी गई थी। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में तीन आख्यायिकाओं का उल्लेख किया है, जिनके नाम वासवदत्ता, सुमनोत्तरा तथा भैमरथी हैं। इनके अतिरिक्त बृहत्कथा, पंचतंत्र तथा अन्य तंत्र-आख्यायिकायें भी मिलती हैं, जिनमें गद्य का सुचारू रूप से प्रयोग किया गया है। परन्तु काव्यात्मक प्रौढ़ एवं प्रांजल गद्य के दर्शन हमें दण्डी, सुबन्धु तथा बाण के ग्रंथों में ही मिलता है। इनसे पूर्व के लेखकों का कोई पता नहीं चलता। हो सकता है कि इन ग्रंथकारों ने अपनी सुललित शैली द्वारा सर्वसाधारण पर ऐसा प्रभाव स्थापित कर लिया था कि अन्य गद्य-ग्रन्थों को लोग भूल गये।

संस्कृत-गद्य में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें लाघव एवं लघु-कायता अधिक मिलती है। जो बात अन्य भाषा के गद्य में बड़े लम्बे वाक्यों में प्रकट की जायगी वह यहाँ एक ही पद में सरलता के साथ प्रकट करदी जाती है। इसकी लाघव-प्रवृत्ति के कारण ही इसमें समास की बहुलता दिखाई देती है। इस समास-बहुला गद्य का आविर्भाव प्रथम

तथा द्वितीय शताब्दी के शिलालेखों में भी प्रचुरता से मिलता है। रुद्र-दामन के १५० ई० के शिलालेख में समास-बहुला अलंकृत गद्य का ही प्रयोग हुआ है। हरिषेण की प्रयाग-प्रशस्ति का गद्य भी इसी प्रकार प्रौढ़ एवं समास-बहुल है। इस प्रौढ़ एवं समासबहुल गद्य से पूर्व दर्शन-ग्रन्थों में सीधा एवं सरल गद्य मिलता है। दर्शन पर ये शास्त्रीय ग्रन्थ सभी गद्य में ही लिखे गये थे। इन शास्त्रीय गद्य के लेखकों में पतंजलि, शबरस्वामी, शंकराचार्य तथा जयन्त भट्ट ये चार विद्वान् प्रसिद्ध हैं। ये विद्वान् अत्यन्त उदात्त एवं प्रांजल गद्य के लेखक हैं। पतंजलि ने अपने महाकाव्य में बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है। उनकी शैली में कथोपकथन की प्रवृत्ति मिलती है। समस्त गद्य सरल एवं सुबोध है तथा छात्रों को समझाने के लिए ही लिखा गया जान पड़ता है। शबरस्वामी ने कर्ममीमांसा के सूत्रों पर अपना भाष्य लिखा है। इनकी शैली भी सीधी-साधी एवं रोचक है। शंकराचार्य ने उपनिषदों पर भाष्य लिखे हैं। इनकी गद्य सारगर्भित, प्रौढ़ एव प्रांजल है। वाचस्पति मिश्र जैसे विद्वान् ने इनके गद्य को यथार्थतः प्रसन्न-गंभीर कहा है। इनकी गद्य में वीणा की झंकार, साहित्यिक माधुर्य एवं प्रसाद गुण की अपूर्व छटा विद्यमान है। जयन्त भट्ट ने 'न्यायमंजरी' नामक न्याय-दर्शन का एक प्रामाणिक ग्रंथ लिखा है। ग्रन्थमें बड़े सरस प्रौढ़ एवं प्रांजल गद्य का प्रयोग किया गया है। इनकी शैली बड़ी रोचक है तथा व्यंगपूर्ण उक्तियों की भरमार है।

इसके उपरान्त गद्यात्मक कथा-साहित्य मिलता है। इस साहित्य का उद्भव विक्रम से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व ही होचुका था। जैसा हम पहले कह आये हैं कि कात्यायन तथा पतंजलि के ग्रन्थों में इस कथा-साहित्य का आभास मिलता है। इन दोनों के ग्रन्थ-रत्नों के अतिरिक्त काशिका में भी वासवदत्ता और सुमनोत्तरा आदि आख्यायिकाओं का उल्लेख मिल जाता है। परन्तु ये सभी ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। इस कथा-साहित्य के आविर्भाव का भी कुछ निश्चित पता नहीं चलता। पीटरसन का तो यहाँ तक कहना है कि भारतीय कथा-साहित्य पर

यूनानी कथा-साहित्य का प्रभाव पड़ा है। दोनों में अनेक समानतायें भी हैं। उदाहरण के लिए स्त्रैण सौंदर्य, पशु एवं लता-पादपों में दाम्पत्य प्रेम का वर्णन आदि बातें यूनानी प्रभाव की द्योतक हैं। इनमें युक्ति यह दी जाती है कि जैसे यूनानी फलित-ज्योतिष का प्रभाव भारतीय फलित-ज्योतिष पर पड़ा है, वैसे ही कथा साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा होगा, किन्तु अन्त में उसने अपनी सम्मति बदल दी थी जब उसे लैकोटे द्वारा लिखित यूनानी गद्यकाव्य तथा बृहत्कथा में समानता वाला लेख मिला। यह कथा-साहित्य संस्कृत के अन्तर्गत दो रूपों में मिलता है। कुछ कथायें हैं और कुछ आख्यायिकायें मिलती हैं। आचार्य दंडी के मतानुसार कथा एवं आख्यायिका में यह अन्तर है कि कथा कवि-कल्पित होती है, जब कि आख्यायिका ऐतिहासिक कथा के आधार पर लिखी जाती है। कथा में या तो नायक स्वयं वक्ता के रूप में होता है या कोई अन्य पात्र सारी कहानी सुनाता है, किन्तु आख्यायिका में सदैव नायक ही वक्ता के रूप में होता है। कथा में अध्याय या उछ्वास आदि नहीं होते और न उसमें पद्यों का ही प्रयोग किया जाता है, परन्तु आख्यायिका अध्याय या उछ्वासों में विभक्त रहती है, साथ ही उसमें यत्र-तत्र पद्य भी रहते हैं। कथा वर्णनात्मक अधिक रहती है और उसमें संध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय, रजनी आदि का अत्यधिक वर्णन रहता है, परन्तु आख्यायिका में इन-सब बातों की ओर जोर नहीं दिया जाता और वह वर्णनात्मक भी नहीं होती। कथा में कुछ विशिष्ट सांकेतिक शब्दों (Catchword) का प्रयोग होता है, जब कि आख्यायिका में ऐसे शब्द प्रयुक्त नहीं होते और वह भावात्मक शैली में लिखी जाती है। इस प्रकार की कथा एवं आख्यायिकाओं में ही गद्य काव्य का भव्य रूप मिलता है और इन गद्य-काव्य-निर्माताओं में तीन ही लेखक अधिक प्रसिद्ध हैं, जिनके नाम दण्डी, सुबंधु तथा बाण हैं। इन तीनों के काल-निर्णय में विद्वानों में पर्याप्त मत-भेद मिलता है। अतः कुछ विद्वान् सुबंधु को दण्डी से पहला गद्य-काव्य लेखक बतलाते हैं और कुछ विद्वानों का मत है कि रचना-शैली आदि आंतरिक एवं अन्य

वाह्यसाक्ष्यों के आधार पर दण्डी सुबंधु से पहले हुए थे। इतना अवश्य है कि बाण महाकवि उक्त दोनों गद्यकारों के उपरान्त ही हुए। अब हम क्रमशः तीनों गद्यकारों का विस्तृत विवेचन करेंगे।

(१) दण्डी—परम्परानुसार दण्डी तीन ग्रन्थों के रचयिता माने जाते हैं। उनके नाम क्रमशः काव्यादर्श, दशकुमारचरित तथा मृच्छकटिक हैं। मृच्छकटिक ग्रन्थ के बारे में अब यह मत है कि इस ग्रन्थ को केवल इस आधार पर ही दण्डी का बतलाया जाता है कि काव्यादर्श तथा मृच्छकटिक दोनों में एक पद्य समान रूप से आया है और संभवतः इसी कच्चे आधार पर पिश्चल ने इस ग्रन्थ को दण्डी का कहा है। परन्तु यह उचित नहीं दिखाई देता क्योंकि एक पद्य भास द्वारा रचित चारुत्तद में भी मिलता है। ऐसे ही एक अवन्तिसुन्दरी नामक गद्यकाव्य भी दण्डी का बतलाया जाता है, परन्तु उसकी शैली सुबन्धु और बाण के ग्रन्थों की शैली की स्पर्द्धा सी करती है। अतः यह ग्रन्थ दण्डी का नहीं हो सकता। यह भी कहा जाता है कि शायद इनका एक ग्रन्थ छन्दोविचित है, जिसका उल्लेख काव्यादर्श में मिलता है। परन्तु इसका कुछ निश्चय नहीं कि यह शब्द किसी विशिष्ट ग्रन्थ की ओर संकेत करता है अथवा अलङ्कार के सामान्य शास्त्र को बतलाता है। अवन्तिसुन्दरी कथा के प्रारम्भ में दण्डी का जीवन चरित दिया हुआ है, उससे पता चलता है कि इनके पिता का नाम वीरदत्त था जो एक सुयोग्य दार्शनिक थे और इनकी माता का नाम गौरी था। बचपन में ही इनके माता-पिता का स्वर्गवास होगया। अतः कुछ दिनों तक ये निराश्रय होकर इधर-उधर मारे-मारे फिरते रहे अन्त में पल्लव नरेश की सभा में आकर वहीं रहने लगे और वहीं अपने ग्रन्थों की रचना की। इस तरह ये कांची (दक्षिण) के रहने वाले थे। इनका समय निश्चित करने में काव्यादर्श से सहायता मिलती है। उसमें राजवर्मा पल्लव-नरेश का वर्णन आया है। ये पल्लव नरेश ६९०-७१५ ई० में स्थित थे। किन्तु दशकुमार चरित की भौगोलिक स्थिति के आधार पर इनका समय छठी शताब्दी में ठहरता है। अन्य आभ्यान्तरिक साक्ष्यों के आधार पर भी यही पता

चलता है कि ये राजा भोज के अनन्तर भावी नृप के शासन काल में विद्यमान थे और इनका समय छठी शताब्दी ठीक ठहरता है।

इनका काव्यादर्श तो अलङ्कार का ग्रन्थ है। दशकुमार चरित गद्य-काव्य है। काव्यादर्श में शैली तथा कथावस्तु के सम्बन्ध में जिन नियमों का विधान किया गया है उनका सर्वथा पालन "दशकुमार चरित" में नहीं दिखाई देता। दशकुमार चरित में दस राजकुमारों ने अपने-अपने पर्यटन, विचित्र अनुभवों तथा पराक्रमों का मनोरंजक वर्णन किया है। इसे "धूर्त्तों का रोमांस" कहना अनुचित न होगा। छल-कपट, मारकाट तथा चोरी आदि से ओत-प्रोत यह एक सजीव कृति है। व्यंग्य और विनोद का पुट देकर उसमें तत्कालीन समाज का अत्यन्त गोचर चित्रण किया है। दंभी, तपस्वी, कपटी ब्राह्मण, धूर्त्त कुटनी, व्यभिचारी स्त्रियों तथा हृदयहीन वेश्याओं का भली प्रकार भण्डा फोड़ किया गया है। इसका कथानायक राजवाहन है। इसमें कुछ अलौकिक एवं कुछ लौकिक घटनाओं का बड़ी विशदता के साथ वर्णन है, जैसे मार्कण्डेय मुनि के शाप से सुरतमंजरी नाम की एक अप्सरा चाँदी की जंजीर होगई थी उसने नायक राजवाहन को बाँध लिया और वह फिर अप्सरा की अप्सरा होगई। ऐसे ही लोग जूआ खेलने में, चोरी करने में, सेंध लगाने में तथा अन्य ऐसी ही दूसरी बातों में बड़े सिद्धहस्त बतलाये गये हैं।

दण्डी सुभग और मनोरम वैदर्भी गद्य-शैली के आचार्य हैं। इनकी वर्णन-प्रणाली सरल और प्रसाद गुण युक्त है। ये अपनी भाषा को अलङ्कारों के आडम्बर से चित्र-विचित्र बनाने का प्रयत्न नहीं करते। इसी कारण इनका गद्य नैसर्गिक प्रवाह-पूर्ण, मँजा हुआ और मुहावरेदार है। सुबन्धु की गद्य के समान न तो इसमें श्लेष का बाहुल्य है और न बाण के गद्य की भाँति "सरस स्वर वर्णपद" से सुशोभित साहित्यिक गद्य का आदर्श है। वाक्य-विन्यास आयासजन्य नहीं प्रतीत होता, अपितु ओजस्वी, ललित एवं सुव्यक्त है। अर्थ की स्पष्टता, रस की सम्यक् अभिव्यक्ति, शब्द-विन्यास की चारुता तथा कल्पना की उर्वरता

आदि दण्डी की शैली के विशेष गुण हैं ! "दण्डिनः पद लालित्यम्" तो प्रसिद्ध ही है। यत्र-तत्र दण्डी भाषा को अवश्य थोड़ा सजाना नहीं भूलते। उनकी सरलता एवं सुबोधता को देखकर एक आलोचक ने तो यहाँ तक लिखा है :—

"कविर्दण्डी, कविर्दण्डी, कविर्दण्डी न संशयः।"

इस प्रकार दण्डी का गद्य प्रतिदिन के व्यवहार योग्य गद्य का सजीव रूप प्रस्तुत करता है। ये जनता के कवि हैं और इसीलिए इनके गद्य में जनता के सुख, वेदना, आनन्द आदि का परिस्फुरण पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

(२) सुबन्धु—दण्डी के उपरान्त सुबन्धु की प्रांजल गद्य का स्वरूप मिलता है। इनका लिखा हुआ "वासवदत्ता" नामक एक मात्र ग्रन्थ ही उपलब्ध हुआ है। सुबन्धु की वासवदत्ता का प्राचीनतम उल्लेख बाण के हर्षचरित में मिलता है। सुबन्धु के जीवन के विषय में अभी तक निश्चित रूप से कुछ पता नहीं है। वासवदत्ता में इन्होंने छन्दोविचिति का दो बार उल्लेख किया है। यदि यह छन्दोविचिति दण्डी का ही ग्रंथ है, तो सुबन्धु निश्चयपूर्वक दण्डी के उपरान्त ही हुए थे। इतना अवश्य है कि वासवदत्ता ग्रन्थ में उद्योत्कर तथा बौद्धसंगत्यलङ्कारकार धर्मकीर्ति का नाम आया है। ये दोनों ही छठी शताब्दी ईसा के उत्तरार्द्ध में हुए हैं। अतः इनका समय ईसा की छठी शताब्दी का उत्तरार्द्ध ही ठहरता है। यह तो निश्चित ही है कि "वासवदत्ता" हर्षचरित से पूर्व लिखी गई है।

वासवदत्ता ही सुबन्धु की एकमात्र उपलब्ध रचना है। सुबंधु की यह कृति संस्कृत गद्य काव्य के उस रूप का प्रतिनिधित्व करती है जिसमें कथानक तो अत्यन्त लघु रहता है, परन्तु वर्णन-विस्तार का प्राधान्य रहता है तथा पांडित्य कल्पना का स्थान ले लेता है। राजकुमार कन्दर्पकेतु स्वप्न में अपनी भावी प्रियतमा के दर्शन करता है और काम-पीड़ित होकर उसकी खोज में निकल पड़ता है। उधर कुसुमपुर के राजा शृंगारशेखर की इकलौती पुत्री वासवदत्ता भी स्वप्न में एक

सुन्दर तरुण राजकुमार को देखती है और उसकी तलाश में अपनी अनुचरी तमालिका को भेजती है। अंत में पर्याप्त संघर्ष के उपरांत कंदर्पकेतु तथा वासवदत्ता का मिलन होता है और उसे लेकर कंदर्पकेतु अपनी राजधानी लौट आता है। कथानक तो इतना ही है परन्तु सुबन्धु की विशेषता कथा में नहीं है, अपितु नायक-नायिका के रूप-सौंदर्य वर्णन में, उसकी गुणावली के गान में, उसकी तीव्र विरहातुरता के चित्रण में तथा मिलनाकांक्षा एवं संयोगदशा के चित्रण में है। शब्दकौशल के कारण कृति में विषयान्तरों का ही बाहुल्य है। वाक्य बड़े लम्बे-लम्बे हैं। लगभग १२० पंक्तियों के एक वाक्य में वासवदत्ता के विलास-विभ्रम का अतिरंजित चित्रण किया गया है।

सुबंधु की शैली में अतिशयोक्ति, अनुप्रास तथा समास की प्रधानता है। इनकी रचना-शैली गौड़ी रीति का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है। इनकी यह गर्वोक्ति सत्य है कि—

"प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रपंच विन्यासवैदग्ध्यनिधिप्रबंधम् ।
सरस्वतीदत्तवरप्रसादश्चक्रे सुबन्धुः सुजनैक बन्धुः ॥"

अर्थात् मैंने एक ऐसे विलक्षण काव्य की रचना की है जिसके प्रत्येक अक्षर में श्लेष है। इनकी गद्य-रचना श्लेष तथा विरोधाभास का ऐसा दुर्गम महाकान्तार है कि उसमें वास्तविक काव्य-सौंदर्य को ढूंढ़ निकालना सर्वथा कठिन होजाता है। अलंकारों, दीर्घकाय समासों तथा पौराणिक संकेतों के प्रयोग में सुबन्धु औचित्य की सीमा का भी उल्लंघन कर जाते हैं। इसी कारण रसास्वादन कहीं-कहीं तो दुर्लभ हो जाता है। दण्डी में वीरता, विचित्रता तथा शृंगारिकता का स्निग्ध एवं रमणीक चित्रण मिलता है किन्तु सुबन्धु चित्रकाव्य के चक्कर में पड़कर रम्य भावों का सफल चित्रण नहीं कर पाये हैं। स्थान-स्थान पर नये रंग भरकर उन्होंने प्रत्येक चित्र को विचित्र बना डाला है। अतः सुबंधु में न तो दंडी का सा हास्य, ओज तथा वैचित्र्य है और न बाण की सी उर्वर कल्पना-शक्ति तथा वर्णन-प्रतिभा है। यहाँ आडम्बर, कृत्रिमता तथा असंगति ही अधिक मिलती है। एक ही क्रिया पर

विपुलकाय वाक्य की रचना करने में सुबन्धु अद्वितीय हैं। वैसे संवादों में बाण की भाँति छोटे-छोटे वाक्यों का भी प्रयोग मिलता है, किन्तु श्लेष की तो सर्वत्र बहुलता मिलती है।

(३) बाण—महाकवि बाण सरस्वती के वरद पुत्र थे। इन पर लक्ष्मी तथा सरस्वती दोनों की समान अनुकम्पा रही। इनके पिता का नाम चित्रभानु था। लड़कपन में पिता की मृत्यु के बाद अनेक मित्रों के साथ खूब पर्यटन किया। अन्त में थानेश्वर के तत्कालीन नरेश हर्षवर्धन के यहाँ रहने लगे। इन्हीं महाराज हर्षवर्धन के लिए हर्षचरित का निर्माण किया। राजा हर्षवर्धन का समय ईस्वी की सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। अतः यही समय बाण की कविता का भी अभ्युदय-काल कहा जासकता है। पहले ये सोणनद के किनारे प्रतिकूट नामक नगर में रहा करते थे। महाकवि बाण द्वारा लिखित पाँच ग्रंथ माने जाते हैं जिनके नाम चण्डीशतक, पार्वतीपरिणय, मुकुटताडितक, हर्षचरित तथा कादम्बरी हैं। किन्तु इनकी कान्ति के आधारभूत दो ही ग्रंथ हैं, जो हर्षचरित तथा कादम्बरी के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें से प्रथम तो आख्यायिका है तथा दूसरा गद्य-काव्य का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

हर्षचरित—इस ग्रंथ में कुल ८ उच्छ्वास हैं। पहले तीन उच्छ्वासों में बाण ने अपनी आत्मकथा लिखी है। शेष में सम्राट् हर्षवर्धन का जीवन-चरित्र अंकित किया गया है। ऐतिहासिक विषय पर गद्य काव्य लिखने का यह प्रथम प्रयास है। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से भी हर्षचरित में कई विशेषताएँ हैं। बाण की अद्भुत वर्णन-शक्ति का परिचय स्थान-स्थान पर मिलता है। इसमें प्रसाद गुण अधिक है। जैसे :—

"आर्य कथय महानुभावस्य आगमनेन कतमो देशः शून्यतां नीतः ? क्व वा गन्तव्यम् ? कस्य वायं कुमारः ? का चास्य जननी ? कानि वास्य नामाक्षराणि ?"

कादंबरी—बाणभट्ट की ही नहीं अपितु समस्त संस्कृत साहित्य की सर्वोत्कृष्ट गद्य-रचना है। बाण की इस कथा का बीज गुणाढ्य

की बढ्ढकहा (बृहत्कथा) में मिलता है। यह संस्कृत-साहित्य का सर्वोत्कृष्ट उपन्यास है। इसके कथानक में कथा और उपकथा के सम्मिश्रण से कुछ जटिलता अवश्य आगई है, फिर भी उसके स्वाभाविक विकास एवं कुशल-निर्वाह में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। इस कथा की प्रधान नायिका कादम्बरी है, किन्तु उसका उल्लेख कथा के मध्य में जाकर होता है। महाश्वेता की प्रणय-कथा तो कादम्बरी के प्रेम की भूमिका-मात्र है। शूद्रक की राज सभा में चाण्डाल कन्या एक विलक्षण शुक को लेकर प्रवेश करती है। यह प्रारम्भिक घटना ही ऐसे रहस्य में लिपटी हुई है कि उसके उद्घाटन के लिये आगे बरबस बढ़ना पड़ता है, किन्तु यह रहस्योद्घाटन कथा के अन्त में आकर होता है।

बाण ने कादम्बरी में अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण बड़ी कुशलता के साथ अङ्कित किया है। कादम्बरी के सभी पात्र सजीव हैं। सौम्ययुवक हारीत, उदार नृपति तारापीड, आदर्श-अमात्य शुकनास, सुकुमार रानी विलासवती, छाया की भाँति अनुसरण करने वाली पत्रलेखा, स्नेहमय किन्तु कठोर कपिंजल, शुभ्रवदना तपस्विनी महाश्वेता—ये सभी पात्र पाठक के अन्तस्थल पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाते हैं। कथानायिका कादम्बरी के चित्रण में तो बाण ने अपने अप्रतिम कल्पना-वैभव, वर्णन पटुता तथा मनोवृत्तियों के मार्मिक निरीक्षण का परिचय दिया है। चन्द्रापीड के आकृष्ट होने पर कादम्बरी किस प्रकार आशा-निराशा और मिलन-विरह के परस्पर विरोधी भावों के हिंडोले पर झूलती है, इसका चित्रण बाण ने अत्यन्त मर्मस्पर्शी किया है।

कादम्बरी में बाण ने अपनी उर्वर कल्पना द्वारा केवल अतिरंजित चित्र ही अङ्कित नहीं किये हैं, अपितु अपने बहुमुखी जीवन के विविध अनुभवों को भी रोचक शैली में अङ्कित किया है। प्रासाद, नगर, वन, उपवन तथा आश्रमों के यथातथ्य वर्णन बाण की भ्रमणशीला प्रकृति के सुन्दर प्रमाण हैं। शुकनास के मुख से बाण ने चन्द्रापीड को जो उपदेश दिलाया है, वह आज भी प्रत्येक नवयुवक स्नातक के लिए दीक्षान्त भाषण से कम नहीं। कादम्बरी की वर्णन-विविधता दर्शनीय है। कहीं

विन्ध्याचल की विकट रोमांचकारी अटवी तथा महर्षि जावालि के शांत और पावन आश्रम की सात्विक शोभा का चित्रण है, तो कहीं शूद्रक और तारापीड के ऐश्वर्य, विलास एवं वैभव के चित्र हैं। कहीं वीणा-वादिनी महाश्वेता की विरह-विधुरा मूर्ति के दर्शन हैं, तो कहीं कमनीय कलेवरा कादम्बरी के प्रणयोन्माद और सलज्ज कौमार्य का स्निग्ध चित्रण है। आच्छोद सरोवर तथा हिमालय के भव्य दृश्यों का वर्णन भी अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। द्रविड़ यति का वर्णन इस बात का सूचक है कि बाण उपहास योग्य विषयों को भी बड़ी सफलता के साथ अङ्कित करते हैं। अन्य स्थलों पर भी परिहास के योग्य स्थल मिल जायेंगे जैसे स्कन्दगुप्त की नाक उसकी वंशावली के समान ही बतलाई गई है। इन्द्रा-युध अश्व के वर्णन में तो इतनी सजीवता उत्पन्न करदी है कि बाण को लोग "तुरङ्ग बाण" ही कहने लगे थे।

कथोपकथन बड़े सरस एवं स्वाभाविक हैं तथा कथावस्तु को आगे बढ़ाने में ही सदैव तत्पर रहे हैं। संवादों में सर्वत्र प्रसादगुण की छटा मिलेगी। जैसे, "लब्धापि खलु दुःखेन पाल्यते। न परिचयं रक्षोति। नाभिजनमीक्षते। न रूपमालोकयते। न कुलक्रममनुवर्तते। न शीलं पश्यति। न वैदग्धं गणयति। न लक्ष्मीं प्रमाणी करोति। गन्धर्व नगर लेखेव पश्यत एव नश्यति।" कादम्बरी का प्रधान रस शृङ्गार है। इसमें मानवहृदय की मूक भरी वेदना की करुण कथा है। बाण ने यहाँ जिस प्रेम का चित्रण किया है, वह सर्वथा उदात्त एवं परिष्कृत है। दशकुमार चरित की भाँति इसमें कहीं अश्लीलता के दर्शन नहीं होते। सच तो यह है कि महाश्वेता के प्रेम में पागल पुंडरीक को कपिंजल द्वारा भर्त्सना कराकर बाण ने यह शिक्षा दी है कि असंयत प्रेम मानसिक एवं शारी-रिक दुरवस्था का कारण होता है। सच्चा प्रणय सत्य की भाँति चिरन्तन है। अतः कादम्बरी जन्म-जन्मांतर के संचित संस्कारजन्य 'जननांतर सौहृद' का सजीव चित्रण है।

कादम्बरी की रचना शैली को जानने से पूर्व बाण के गद्य-सम्बन्धी

विचार जान लेना अत्यावश्यक है। गद्य के बारे में बाण का यह मत है कि :—

"नवोर्थोजातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाऽक्षर बन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम्॥"

अर्थात् मौलिककल्पना, सुरुचिपूर्ण स्वभावोक्ति, अश्लिष्ट श्लेष, स्फुट रूप से प्रतीयमान रस तथा दृढ़बन्धमुक्तपदावली इन समस्त गुणों का एकत्र सन्निवेश दुर्लभ है। दूसरे के मनोभावों का यथातथ्य चित्रण तथा अभिनव अर्थ की कल्पना को बाण उत्कृष्ट गद्य-शैली का प्रधान लक्षण मानता है। इस प्रकार बाण ने पांचाली रीति का प्रयोग करते हुए अपना गद्य लिखा है, जिसमें अर्थ के अनुरूप ही शब्दों का संगुम्फन होता है। बाण ने सर्वत्र विषयानुकूल भाषा का प्रयोग किया है। विकट विंध्याटवी के वर्णन में विकट शब्दों का प्रयोग किया है, जहाँ लंबे-लम्बे समासयुक्त पद मिलते हैं; जैसे "क्वचित्प्रलयवेलैव महावराह दंष्ट्रासमुत्खातधरणिमंडला, क्वचिदुद्वृत्तमृगपतिनादभीतेव कण्टकिता" आदि। ऐसे ही बसन्त के वर्णन के अवसर पर सुकुमार वर्णों का प्रयोग मिलता है "अशोकतरुताडनारणितरमणीमणिनूपुर झङ्कार-सहस्रमुखरेषु सकलजीवलोकहृदयानन्देषु मधुमास दिवसेसु।"

बाण ने अलङ्कारों का प्रयोग भी अत्यन्त स्वाभाविक ढङ्ग से किया है। उनके लम्बे-लम्बे समास यदि गिरि नदी के उद्दाम प्रवाह की भाँति हैं, तो उनकी श्लिष्ट उपमायें इन्द्रधनुष की छाया की भाँति उसे रंगीन बना देती हैं, साथ ही उनके अनुप्रास विलक्षण स्वर-माधुर्य की सृष्टि करते हैं। विशेषकर श्लेष, विरोधाभास, परिसंख्या, रसनोपमा, उत्प्रेक्षा एवं उपमाओं के लिखने में बाण ने अपूर्व कौशल दिखाया है। रसनोपमा का उत्कृष्ट उदाहरण बाण की इन पंक्तियों में मिलता है—"क्रमेण च कृतं मे वपुषि वसंत इव मधुमासेन, मधुमास इव नवपल्लवेन, नवपल्लव इव कुसुमेन, कुसुम इव मधुकरेण, मधुकर इव मदेन नवयौवनेन पदम्।" अलङ्कारों के अतिरिक्त प्रकृति-चित्रण भी सजीव एवं अलंकृत है तथा बाण के सूक्ष्म-निरीक्षण का परिचायक है। उन्होंने प्रकृति के रम-

णीय एवं विराट दोनों स्वरूपों की झाँकी प्रस्तुत की है।

इस प्रकार बाण की अपूर्व रचना-चातुरी द्वारा कादम्बरी की सृष्टि हुई है। इसमें शैली की उत्कृष्टता, अलङ्कारों की अनुपम छटा, प्रकृति-चित्रण की सजीवता, वैभव-विलास के चित्रण की यथार्थता आदि के एक साथ ही दर्शन होते हैं। श्लिष्ट एवं लाक्षणिक प्रयोगों में तो बाण ने अपूर्व कौशल दिखलाया है। परन्तु श्लेष तथा अधिक लम्बे समासयुक्त पदों के कारण कहीं-कहीं बड़ी दुरूहता उत्पन्न होगई है। कहीं-कहीं तो बाण ने प्रस्तुत विषय को तब तक नहीं छोड़ा जब तक कि उनके पास पर्यायवाची विशेषणों का भांडार समाप्त नहीं होता। उनकी इस प्रवृत्ति से ऊब कर पाश्चात्य आलोचकों ने बाण के गद्य की उपमा एक ऐसे भीषण महाकान्तार से दी है जिसमें क्लिष्ट एवं दुरूह शब्दों के झाड़-झंकाड़-खड़े हैं, सूक्ष्मपौराणिक संकेतों की कन्दरायें हैं और विपुलकाय विकट समासों के रूप में व्याघ्र विचरण कर रहे हैं। दूसरा यह दोष भी है कि बाण कथानक में यथास्थान विस्तार और संकोच नहीं करता। मुख्य कथा के बीच आवान्तर वर्णनों के बाहुल्य से कथानक की प्रगति कुण्ठित होगई है।

वेदान्त के क्षेत्र में शंकराचार्य और काव्य-क्षेत्र में बाण, इन दोनों की पाश्चात्य लोगों के हाथों बुरी दशा हुई है और यह उनके न समझने के कारण है। वस्तुतः बाण के गद्य काव्य का यथार्थ महत्व उसके कथानक, चरित्र-चित्रण तथा वस्तुविन्यास में नहीं है, वरन् उसके कवित्व, एवं रसमय प्रवाह में है। बाण का गद्य व्यावहारिक काव्यों के लिए भले ही अनुपयुक्त हो, किन्तु कादम्बरी जैसे उत्कृष्ट गद्य-काव्य के लिये सर्वदा उपयुक्त है। उनके काव्य विपुल-काय होते हुए भी अस्पष्ट नहीं हैं तथा समासों और विशेषण-पदों की बहुलता होने पर भी विशद एवं परिष्कृत हैं। उनके पौराणिक संकेत भारतवासियों के लिए कदापि क्लिष्ट नहीं हैं। उनके शब्द-चित्रों में विविधता है और शब्द-भण्डार अक्षय है। उनके गद्य में चारुता एवं स्निग्धता है। तथा औचित्य का कहीं भी अतिक्रमण नहीं हुआ है।

उपर्युक्त दण्डी सुबन्धु तथा बाण जैसे लेखकत्रय के अतिरिक्त संस्कृत के कुछ और गद्य-ग्रन्थ मिलते हैं, जो इन तीनों महान् लेखकों के उपरान्त लिखे गये हैं और जिनमें प्रायः बाण का ही अनुकरण किया गया है। इन गद्य ग्रन्थों में से धनपाल का 'तिलकमञ्जरी' नामक ग्रन्थ १० वीं शताब्दी में लिखा गया था तथा इसमें बाण की सी शैली का ही प्रयोग मिलता है। बादीभसिंह ने "गद्यचिन्तामणि" नामक ग्रन्थ भी १० वीं शताब्दी में लिखा, इसमें भी कादम्बरी का सा ही कथानक है। सोड्ढल ने ११ वीं शताब्दी में "उदयसुन्दरी" नामक एक गद्य काव्य लिखा तथा वामनभट्ट ने १५ वीं शताब्दी में "वेमभूपालचरित" की रचना की। यह चरित बाण के हर्षचरित के आधार पर ही है। अम्बिकादत्त व्यास ने १९०१ ई० में "शिवराजविजय" नामक गद्य काव्य प्रकाशित कराया। यह संस्कृत का एक सुन्दर उपन्यास है। इसमें ऐतिहासिक घटनाओं पर कल्पना का रङ्ग चढ़ाया गया है। सम्वाद सजीव हैं। व्यंग्य तथा हास्य का पुट भी है। शैली में दण्डी तथा बाण दोनों का अनुसरण किया है। ये "अभिनव बाण" कहलाते हैं। इनके अलावा हृषीकेश शास्त्री भट्टाचार्य ने "विद्योदय" नामक एक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया था, जो कितने ही वर्षों तक चलती रही। इसमें आपने संस्कृत के सुमधुर निबंधों की प्रथा चलाई। आपके लेखों का संग्रह "निबन्ध-मंजरी" के नाम से प्रकाशित होचुका है। आपने "उद्भिज परिषद्" नामक व्यंग्य लिखकर संस्कृत-गद्य के अन्तर्गत व्यंग्य शैली का भी श्रीगणेश किया।

सारांश यह है कि संस्कृत-गद्य के अन्तर्गत काव्यात्मक लौकिक कथाओं का श्रीगणेश यद्यपि प्राचीन काल से ही मिलता है, परन्तु उसका प्रौढ़ रूप इन लेखकत्रय के समय में ही देखा जाता है। इन गद्य-काव्यों में लोक-कथाओं को ही अधिक अपनाया गया है। ये गद्यकाव्य शिष्ट एवं सम्भ्रान्त लोगों के लिए ही लिखे गये हैं। अतः इनमें कुछ दुरुहता एवं क्लिष्टता भी अवश्य आगई, है। अलङ्कारों, प्राकृतिक दृश्यों तथा नायक-नायिकाओं की शारीरिक एवं मानसिक दशाओं के अतिरंजित वर्णन

भी मिलते हैं। वैसे मुख्यतः शृङ्गार-रस का ही वर्णन हुआ है, किन्तु अन्य रस भी आये हैं। इनमें कथानक को गौण-स्थान मिला है। यहाँ तो भाषा-सौष्ठव, वर्णन-निपुणता, कल्पना-वैचित्र्य, पद-लालित्य, श्लेष-चातुर्य तथा अलङ्कार-वैभव आदि काव्य-गुणों का ही प्राधान्य है। ऐसी अलंकृत-उदात्त एवं परिष्कृत गद्य-शैली कदाचित ही किसी साहित्य में देखने को मिले। परन्तु संस्कृत-साहित्य में यह शैली अपनी अद्‌भुत छटा के साथ विद्यमान है।

प्रश्न २१—संस्कृत के कहानी-साहित्य के उद्‌गम एवं विकास की विस्तृत व्याख्या कीजिए।

उत्तर—संस्कृत-साहित्य के अन्तर्गत कहानी साहित्य अत्यन्त प्राचीन काल से मिलता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में कितने ही ऐसे आख्यान आये हैं, जिनका विकसित रूप ही आगे चलकर ब्राह्मणों, उपनिषदों, पुराणों तथा रामायण-महाभारत आदि ऐतिहासिक ग्रन्थों में मिलता है। रामायण एवं महाभारत की रचना के उपरान्त संस्कृत-साहित्य के अन्तर्गत लोक-प्रचलित घटनाओं के सहारे कहानी-साहित्य निर्माण करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। वैसे तो बौद्धकाल में कहानी-साहित्य अधिक समृद्ध होगया था, किन्तु उसके उपरान्त भी बराबर कहानियाँ लिखी जाती रहीं, जो इतिहास एवं पुराण की अपेक्षा लौकिक जीवन की घटनाओं को लेकर रची गयी थीं और जिनमें नीति, धर्म शिक्षा एवं मनोरंजन की ही प्रधानता थी। ऐसे समस्त कहानी-साहित्य को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—(१) नीति कथा के रूप में, (२) लोक-कथा के रूप में। ये नीतिकथायें पुनः तीन प्रकार की मिलती हैं, कुछ राजनीति से सम्बन्ध रखती हैं, कुछ धार्मिक हैं तथा कुछ व्यवहारिक हैं। इसी प्रकार लोककथाओं के अन्तर्गत भी दो प्रकार के ग्रन्थों का निर्माण हुआ, जिनमें से कुछ शिक्षात्मक थे और कुछ मनोरंजनात्मक थे। इस

प्रकार संस्कृत का समस्त कहानी-साहित्य उक्त पाँच प्रकार से लिखा हुआ मिलता है। किन्तु सुविधा की दृष्टि से कहानी-साहित्य के दोनों प्रमुख भागों का पृथक्-पृथक् विवेचन करते हैं।

१—नीतिकथा के रूप में

इन नीतिकथाओं में सर्वाधिक जन्तुकथाओं (Fables) की ही प्रधानता रही है। ये उपदेश पूर्ण जन्तुकथायें बहुत प्राचीन हैं। वेदों में तो इन जन्तुकथाओं का रूप नहीं मिलता, किन्तु उपनिषदों में ये पर्याप्त मात्रा में भरी पड़ी हैं। छांदोग्य उपनिषद् में सत्यकाम-कथा के अन्तर्गत उसे एक बैल फिर राजहंस जैसे पक्षी से उपदेश ग्रहण करते हुए लिखा है। महाभारत में ये जन्तुकथायें अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है, वहाँ एक पुण्यात्मा बिल्ली की कहानी तथा एक चालाक गीदड़ की कहानी आई है। परन्तु बौद्ध साहित्य में इन जन्तुकथाओं का अत्यन्त उन्नत रूप मिलता है। संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत पञ्चतन्त्र के अन्तर्गत सबसे पहले सुन्दर जन्तुकथायें लिखी गई हैं, जिनमें नीति का सफल सम्मिश्रण मिलता है।

(१) पंचतंत्र—इसके २०० से अधिक संस्करण निकल चुके हैं। अनेक भाषाओं में इसका अनुवाद भी होचुका है। आज भी जावा से लेकर आइसलैंड तक इसका पठन-पाठन होता है। आज यह अपने विकृत एवं परिवर्द्धित-रूप में ही मिलता है। इसके मौलिक रूप का पता नहीं चलता। इसके रचयिता विष्णुशर्मा हैं। हर्टले ने इसकी रचना काश्मीर में बतलाई है। परन्तु वर्णनों के आधार पर यह दक्षिण में रचा गया जान पड़ता है। 'दीनार' शब्द के आधार पर इसका रचना-काल ५५० ई० से पूर्व माना जाता है। कुछ विद्वान् ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी को इसका रचना-काल निश्चित करते हैं। इस ग्रन्थ का निर्माण राजा अमरशक्ति के तीन पुत्रों को राजनीति पढ़ाने के लिए हुआ था इसमें ५ अध्याय हैं, जो 'तन्त्र' कहलाते हैं और उन्हीं के आधार पर इसे "पंच-तंत्र" नाम दिया गया है। प्रो० हर्टले के मत से

'तन्त्र' शब्द का अर्थ दाँव-पेच हैं। इसके प्रथम तन्त्र में उपोद्घात या सुहृदभेद, दूसरे तन्त्र में मित्र-सम्प्राप्ति, तीसरे तन्त्र में सन्धि-विग्रह, चौथे में लब्धप्रणाश तथा पाँचवें तन्त्र में अविमृश्यकारिता की कहानियाँ दी हुई हैं। यह मनोहर तन्त्र आकर्षक ढङ्ग से राजनीति एवं व्यवहारिक शिक्षा के निमित्त लिखा गया है। सारा ग्रंथ उपदेश पूर्ण है। इसका लेखक एक सुमधुर-कथावाचक, राजनीतिज्ञ तथा वर्णन-कला-पटु है। इसमें हास्य, विनोद एवं व्यंग्य का भी पुट पर्याप्त मात्रा में है। कथा का शीर्षक प्रायः श्लोकों में है। जहाँ-तहाँ अनुष्टुप छन्दों में पद्य भी अच्छी तरह प्रयुक्त हुए हैं। भाषा सरल, शुद्ध एवं सुबोध है। दीर्घ-समास तथा श्लिष्ट पद नहीं हैं।

(२) **तंत्राख्यायिका**—दूसरा नीति-कथा का ग्रन्थ 'तन्त्राख्यायिका' के नाम से मिलता है। इसे कुछ विद्वानों ने पंचतन्त्र का ही विकृत रूप माना है। प्रो० हर्टले ने इसे अधिक महत्वपूर्ण नीति-कथा में बतलाया है। इस ग्रन्थ का काल-निर्णय करना सर्वथा कठिन है। इसमें पंचतन्त्र की अपेक्षा कुछ अधिक कहानियाँ भी मिलती हैं, जो नीति एवं लोक-व्यवहार से परिपूर्ण हैं और मानव को समृद्ध बनाने में पर्याप्त सहायता प्रदान करती हैं।

(३) **सरल ग्रंथ**—यह ग्रन्थ पंचतन्त्र तथा तन्त्राख्यायिका के आधार पर ही रचा गया है। इसकी रचना लगभग ११०० ई० में हुई होगी। इसमें अधिकांश कहानियाँ पंचतन्त्र की ही हैं, परन्तु कुछ पद्य तथा कहानियाँ पंचतन्त्र से भिन्न भी हैं। इस ग्रन्थ में ब्राह्मण, ऋषि-मुनियों के स्थान पर जैन-साधुओं का उल्लेख है तथा दिगम्बर, नग्नक, क्षपणक, धर्मदेशना जैसे शब्दों का भी प्रयोग अधिक मिलता है। अतः इससे यह अनुमान होता है कि इस ग्रन्थ का रचयिता कोई जैन होगा। इस ग्रन्थ पर विचार करने पर इसका निष्पादक एक अच्छी शैली का सिद्धहस्त कवि प्रतीत होता है।

(४) **हितोपदेश**—यह ग्रन्थ पंचतन्त्र का ही एक विकृत रूप है।

यह नारायण नामक किसी लेखक द्वारा बंगाल में रचा गया है। यह लेखक सम्भवतः शैव था, क्योंकि इसने धूर्जटी, चन्द्रार्धचूड़ामणि और चन्द्रमौलि को नमस्कार किया है। इसमें १७ नवीन नीति-कथायें भी मिलती हैं, जो पंचतन्त्र में नहीं मिलतीं। शेष सभी पंचतन्त्र की ही कथायें हैं। इसमें कुछ प्रेम तथा साहस की भी कथायें आई हैं। कुछ कथायें महाभारत से भी ली गई हैं। यह चार भागों में लिखा गया है जो क्रमशः मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह तथा सन्धि कहलाते हैं। इसकी रचना-शैली अत्यन्त सरल है तथा यह ग्रंथ रोचक भी अधिक है। इस ग्रन्थ का उद्देश्य बालकों को सरल संस्कृत भाषा में नीति सिखाना है। अतः इस उद्देश्य की पूर्ति इसमें सफलता के साथ मिलती है।

२—लोककथा के रूप में

संस्कृत के कहानी-साहित्य का दूसरा भाग लोककथाओं से सम्पृक्त है। इन लौकिक कथाओं का श्रीगणेश भी अत्यन्त प्राचीन काल में हो गया था। परन्तु पहले ये लौकिक कथायें किसी अन्य ग्रन्थ के अन्तर्गत प्रसङ्गानुकूल लिखी जाती थीं : परन्तु लौकिक संस्कृत के विकास के उपरांत यहाँ लौकिक कथाओं को स्वतंत्र रूप में लिखने की प्रथा चल निकली। भारतीय साहित्य में जिन लौकिक कथाओं के उल्लेख मिलते हैं उनमें सबसे पुराना ग्रन्थ गुणाढ्यकृत वृहत्कथा है। कहते हैं कि यह ग्रन्थ मूल रूप में तो पैशाची भाषा के अन्तर्गत लिखा गया था। परन्तु वह मूल-ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं। आज केवल इसका संस्कृत रूपान्तर मिलता है। इस प्रकार और भी ग्रन्थ लोकप्रिय साहित्य के लिये लिखे गये, जिनका विवरण इस प्रकार है :—

(१) वृहत्कथा—यह ग्रन्थ गुणाढ्य द्वारा रचागया था। यह गुणाढ्य गोदावरी के किनारे प्रतिष्ठान नगर का निवासी था। यह राजा सातवाहन का बड़ा कृपापात्र था। इसने अपने 'वृहत्कथा' नामक ग्रन्थ का निर्माण ईसा की छठी शताब्दी से पूर्व किया था, क्योंकि दण्डी ने अपने काव्यादर्श में इसका उल्लेख किया है। लोक-प्रिय कहानियों का

यह एकमात्र प्राचीनतम ग्रन्थ है। उत्तरकालीन संस्कृत के कथा-साहित्य पर इसी ग्रन्थ का प्रभाव पड़ा है। बाण की कादम्बरी भी इसी के आधार पर लिखी गई। इसमें ऐसी कहानियाँ आई हैं जो भारत के अत्यन्त प्राचीन काल के सामाजिक जीवन की ओर संकेत करती हैं। इसमें चरित्र-चित्रण अत्यन्त सुन्दर एवं सफल किया गया है तथा भारतीय साहित्य-कला को सामग्री देने वाला यह एक विशाल भण्डार है।

२—बृहत्कथामञ्जरी—यह क्षेमेन्द्र ने लिखी है। जैसा नाम से प्रकट है बृहत्कथामञ्जरी 'बृहत्कथा' का ही संक्षिप्त रूप है। क्षेमेन्द्र की लिखी रामायणमञ्जरी तथा भारतमञ्जरी के देखने से प्रतीत होता है कि वह एक सच्चा संक्षेप-लेखक था। इसमें ७५०० पद्य हैं। कथा को यहाँ इतना संक्षिप्त कर दिया है कि 'कथासरित्सागर' को बिना देखे इसका स्पष्ट अर्थ एवं सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। वैसे रचना-शैली अत्यन्त उत्कृष्ट है। इस ग्रंथ का निर्माण १०६३-६६ ई० के लगभग हुआ होगा।

३—कथासरित्सागर—यह ग्रन्थ सोमदेव ने लिखा है। सोमदेव काश्मीरी ब्राह्मण थे। लगभग ११ वीं शताब्दी में इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ। यह ग्रन्थ ईलियड तथा ओडेसी से दुगुना है। कहा जाता है कि इस ग्रन्थ की रचना काश्मीर की रानी सूर्यमती के विनोदार्थ हुई थी। राजा ने १०८१ ई० में आत्महत्या करली और रानी उसकी चिता पर सती होगई। यह ग्रंथ १८ खण्डों में विभक्त है इन खण्डों को लम्भक नाम दिया गया है। साथ ही इसमें २४ उपखण्ड हैं, जो 'तरङ्ग' कहलाते हैं। इसमें मूर्खों, धूर्तों तथा शठों की कहानियाँ हैं, जो बड़ी ही रोचक हैं तथा चरित्र-निर्माण के लिए उपादेय हैं। कुछ आश्चर्यजनक घटनाओं का भी वर्णन इन कहानियों में मिलता है। साथ ही प्रकृति-चित्रण भी अत्यन्त सजीव एवं सुन्दर है।

४—बेतालपंचविंशतिका—इस ग्रन्थ में २५ कहानियाँ हैं। इन कहानियों का वक्ता बेताल है तथा राजा त्रिविक्रमसेन श्रोता है। आज-

कल यह ग्रन्थ बृहत्कथामञ्जरी तथा कथासरित्सागर में सम्मिलित मिलता है। इसके कई संस्करण मिलते हैं। एक १२ वीं शताब्दी का संस्करण मिला है, जिसके लेखक शिवदास माने हैं। परन्तु मुख्य लेखक का कुछ पता नहीं चलता। यह गद्य में है। इसका भारत की सभी भाषाओं में अनुवाद होचुका है। इसकी शैली अत्यन्त सरल, स्वच्छ तथा आकर्षक है। कहीं-कहीं पद्यों का भी प्रयोग किया गया है। भाषा सुगम एवं लावण्यपूर्ण है। पद्यों में श्लेष बहुत ही कम है। अनुप्रास का अवश्य अधिक प्रयोग मिलता है। इसकी कहानियाँ बड़ी ही लोक-प्रिय हैं।

५—शुकसप्तति—इसमें ७० कथायें हैं। इनका वक्ता एक तोता है तथा श्रोत्री एक मैना है, जो पति को सन्देह की दृष्टि से देखती है। इन कहानियों में नारियों की धूर्त्तता, कपटाचरण तथा उनके त्रिया-चरित्र का अच्छा विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ बड़ी ही रोचक शैली में लिखा गया है। इसका गद्य अत्यन्त सरल तथा सुबोध है। बीच-बीच में कुछ पद्य भी आये हैं, जो उपदेशपूर्ण हैं। कुछ पद्य प्राकृत भाषा के भी मिलते हैं। इन पद्यों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि मूलतः यह ग्रन्थ प्राकृत में ही लिखा गया होगा। इसके दो संस्करण मिलते हैं जिनमें से प्रथम संस्करण के रचयिता कोई चिन्तामणि भट्ट माने जाते हैं तथा दूसरे के कोई अज्ञातनामा श्वेताम्बर जैन हैं। यह ग्रन्थ भी अत्यन्त लोक-प्रिय सिद्ध हुआ है और आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य को इसने प्रभावित किया है। इसके रचना-काल के बारे में कुछ पता नहीं। इतना अवश्य है कि जैन हेमचन्द्र (१०८८—११७२ ई०) को इस ग्रन्थ का पता था। अतः यह ११ वीं शताब्दी से पहले ही रचा गया होगा।

६—सिंहासनद्वात्रिंशिका—इसमें ३२ कहानियाँ हैं। इन कहा-नियों को विक्रमादित्य के सिंहासन में लगी हुई ३२ पुतलियाँ सुनाती हैं। कहा जाता है कि विक्रमादित्य ने अपना सिंहासन इन्द्र से प्राप्त किया

था। राजा के स्वर्गवासी हो जाने पर यह सिंहासन पृथ्वी में गाढ़ दिया गया। बाद में धाराधिपति राजा भोज को इस सिंहासन का पता लगा। वह जब इस सिंहासन पर बैठने लगा, तब उसमें लगी हुई ३२ पुतलियों ने ये कहानियाँ राजा भोज को सुनायीं थीं। इसके भी कई संस्करण मिलते हैं, जो इसकी लोक-प्रियता के परिचायक हैं। इस ग्रन्थ का कई भाषाओं में अनुवाद होचुका है। इसकी भाषा सरल है। इसके निर्माता एवं निर्माण काल का कुछ पता नहीं है। इसमें कुछ पद्य भी आये हैं, जो बड़े उपदेशपूर्ण हैं।

उपर्युक्त जिन लोक-कथाओं का उल्लेख किया गया है वे सभी ब्राह्मण-साहित्य से सम्बन्ध रखती हैं। इन कथाओं के अतिरिक्त कुछ लौकिक कथायें जैन तथा बौद्धों ने भी निर्माण कीं, जिनमें नीति, आचार विचार तथा धर्म सम्बन्धी बातों को कहानी के रूप में समझाया गया है। इन कथाओं का मुख्य उद्देश्य तो अपने-अपने धार्मिक विचारों का प्रचार करना ही था; किन्तु साथ ही सर्वसाधारण के कल्याणार्थ भी कुछ नैतिक आधार लेकर कहानियाँ रची गई हैं। जैनियों के निम्न-लिखित दो कहानियों के ग्रन्थ मिलते हैं:—

१—सिद्धर्षि की उपमितिभवप्रपंचकथा—इस कथा ग्रन्थ का निर्माण ६०६ ई० में हुआ था। इसमें मनुष्य की आत्मा का वर्णन आलङ्कारिक भाषा में किया गया है और उसे एक कथा का रूप देदिया है। सारी कथा गद्य में है। कहीं-कहीं पद्य भी आये हैं। भाषा अत्यन्त सरल है। शैली रोचक है तथा सारी कथा उपदेशपूर्ण है।

२—हेमचन्द्र कृत परिशिष्टपर्व—इसमें जैन साधुओं की कहानियाँ दी गई हैं। ये कहानियाँ सरल तथा लोकप्रिय हैं। इनका निर्माण ११ वीं शताब्दी में हेमचन्द्र जैनाचार्य ने किया था।

उपर्युक्त जैन कहानियों के अतिरिक्त कुछ बौद्ध-कहानियाँ भी मिलती हैं, जो लोक-साहित्य के ही अन्तर्गत आती हैं और अत्यन्त लोक-प्रिय सिद्ध हुई हैं। इन कहानियों में मनुष्यों के कर्मों की व्याख्या है तथा

बौद्धधर्म की विशेषता बताने का प्रयत्न है। इन कहानियों के ग्रन्थ निम्नलिखित हैं:—

१—**अवदानशतक**—इसकी रचना ईसा की प्रथम या दूसरी शताब्दी में हुई थी। यह ग्रन्थ दश दर्शकों में विभक्त है। इसकी कहानियों का जितना महत्व उपदिश्यमान शिक्षाओं के कारण है, उतना साहित्यिक गुणों के कारण नहीं। यह ग्रन्थ गद्य तथा पद्य दोनों में लिखा गया है। इसके कुछ उपाख्यान ऐतिहासिक हैं, जैसे अजातशत्रु तथा विम्बसार की कथायें। इसकी रचना बौद्धों के सर्वास्तित्ववाद सम्बन्धी विनयपिटक के आधार पर हुई है। इसकी भाषा अत्यन्त सरल तथा सुबोध है।

२-**दिव्यावदान**—इसकी रचना भी सर्वास्तित्ववादी बौद्धों के विनयपिटक के आधार पर हुई है। इसके दो भाग हैं। प्रथम भाग में महायान सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की व्याख्या है तथा दूसरे भाग में हीनयान सम्प्रदाय के सिद्धान्त दिये गये हैं। इसके संग्रहकर्त्ता को अश्वघोष के बुद्धचरित तथा सौंदरानन्द का परिचय अवश्य था। इसमें शैलीगत एकरूपता नहीं दिखाई देती। इस ग्रन्थ का संग्रह संभवतः ईसा की दूसरी शताब्दी में हुआ था। इसकी सभी कहानियाँ रोचक हैं, जिनमें से कुछ ऐतिहासिक भी हैं; जैसे अशोक के पुत्र कुणाल की कथा इसमें मिलती है, जो बड़ी ही करुणापूर्ण है। यह गद्य तथा पद्य दोनों में लिखा गया है।

३—**आर्यशूर कृत जातकमाला**—इसमें बोधिसत्व के गौरवशाली कृत्यों की कथायें हैं। इस ग्रन्थ का आधार पाली जातक कथायें हैं। इसमें औपदेशिक कहानियों की ही भरमार है। यह ग्रन्थ गद्य तथा पद्य दोनों में लिखा गया है। यह जातकमाला तथा बोधिसत्वावदानमाला दोनों एक ही माने जाते हैं। इसकी कहानियाँ ईसाइयों की औपदेशिक कहानियों से मिलती हैं, अतः ईसाईधर्म के समान ही बुद्धधर्म का प्रचार करने के लिये ये भी लिखी गई हैं। इसमें गद्य-पद्य दोनों प्रयुक्त हुए

हैं। गद्य में दीर्घ समासों का प्रयोग मिलता है। कहीं-कहीं कुछ पाली शब्द भी आगये हैं। इसकी रचना-शैली ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी की रचना-शैली से मिलती-जुलती है। आर्यशूर की इस जातक-माला का अनुवाद १००० ई० के अन्तर्गत चीनी भाषा में हुआ। आर्यशूर तिब्बत के अन्दर एक प्रसिद्ध अध्यापक तथा कथालेखक के रूप में प्रसिद्ध थे। इनका रचना काल ईसा की तीसरी या चौथी शताब्दी माना जाता है। इनकी इन कहानियों की भाषा कुछ तो सुन्दर गद्य-मय और कुछ काव्यश्रेणी की पद्यात्मक है। प्रत्येक कहानी का प्रारम्भ सरल गद्य-खण्ड से हुआ है तथा इनका उद्देश्य आचारपरक एक निश्चित शिक्षा देना है।

प्रश्न २२—वैदिक एवं लौकिक संस्कृत के अन्तर का स्पष्ट विवेचन कीजिए।

उत्तर—भारतीय वाङ्मय का प्राचीन भाग संस्कृत भाषा के अन्तर्गत अधिक मात्रा में मिलता है। यह संस्कृत भाषा अपने दो रूपों में व्यवहृत हुई है। इसका प्राचीनतम रूप वैदिक संस्कृत के नाम से पुकारा जाता है। तथा अर्वाचीन रूप लौकिक संस्कृत के नाम से प्रसिद्ध है। वैदिक संस्कृत के अंतर्गत चारों वेदसंहितायें, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि लिखे गये हैं तथा लौकिक संस्कृत में रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों की रचना हुई है। संहिताओं में पहले पद्य की ही प्रबलता थी। धीरे-धीरे गद्य का विकास हुआ और उपनिषद् काल में आकर गद्य अधिक प्रौढ़ एवं सुदृढ़ होगया। उपनिषदों में अपेक्षाकृत पद्य का प्रयोग कम मिलता है। आगे लौकिक एवं श्रेण्य साहित्य के निर्माण में पुनः पद्य की ही प्रबलता रही और गद्य का प्रयोग केवल व्याकरण, दर्शन आदि में ही हुआ। वह गद्य भी इतना दुर्बोध तथा चक्करदार था कि उसका समझना सर्वथा दुष्कर होगया और कभी-कभी तो अपनी संक्षिप्तता के कारण वह पद्य सा ही प्रतीत होता है। इतना अवश्य है

कि आगे चलकर पुनः साहित्यिक गद्य का विकास हुआ और आख्यायिकायें तथा औपदेशिक एवं नीति सम्बन्धी कहानियाँ इसी गद्य में लिखी गईं। परन्तु यह गद्य समास-प्रधान था और प्राचीन ब्राह्मण एवं उपनिषद् ग्रन्थों से सर्वथा प्रथक् था।

इस प्रकार वैदिक संस्कृत से धीरे-धीरे विकसित होकर ही लौकिक संस्कृत अपने अर्वाचीन रूप को प्राप्त करने में समर्थ हुई। ब्राह्मणों की भाषा लौकिक एवं वैदिक संस्कृत के मध्य युग की भाषा है। उसमें कुछ प्रयोग तो ऐसे मिलते हैं, जो संहिताओं में प्रयुक्त संस्कृत के समान है तथा कुछ प्रयोग पूर्णरूप से लौकिक संस्कृत के निकट हैं। निरुक्त की भाषा भी इसी मध्य-युग की भाषा है। लौकिक संस्कृत के विकास में पाणिनि का सबसे अधिक हाथ रहा। उन्होंने संस्कृत भाषा को सर्वथा शुद्ध एवं व्यवस्थित रूप में स्थिर रखने के लिए ही अपने "अष्टाध्यायी" नामक व्याकरण के प्रसिद्ध ग्रन्थ का निर्माण किया। इस ग्रन्थ के आठ अध्यायों में वैदिक एवं लौकिक संस्कृत के प्रचलित रूपों की व्याख्या की गई है। वैसे उनका ध्यान विशेषतया लौकिक संस्कृत की ओर ही रहा है। इस ग्रन्थ के कारण आज इतना तो दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि संस्कृत में एकरूपता बनी रही। यदि यह 'व्याकरण' न बनता तो संस्कृत का कोई रूप स्थिर न रहता और बड़ी गड़बड़ी मचती। कुछ महाशय पाणिनि पर यह दोषारोपण करते हैं कि उन्होंने भाषा को ऐसे शिकंजे में जकड़ दिया कि वह मृतभाषा (Dead Language) होगई। परन्तु सत्य तो यह है कि यदि पाणिनि का व्याकरण न होता तो संस्कृत भाषा का आज इतना रूपान्तर होजाता कि उसे हम पहचान भी नहीं सकते थे। इस अष्टाध्यायी पर ही कात्यायन ने वार्तिक लिखे, जिनके द्वारा उन शब्दों की भी व्युत्पत्ति सिद्ध की, जो पाणिनि के समय में या तो प्रचलित नहीं थे या जिनको पाणिनि छोड़ गये थे। इनके उपरान्त पतंजलि ने अपना 'महाभाष्य' भी इसी अष्टाध्यायी पर लिखा। उसमें अच्छी प्रकार से पाणिनि के सूत्रों की व्याख्या की गई है और नये-नये प्रयोगों की प्रक्रिया बतलाई है। इस महाभाष्य में संस्कृत

भाषा के प्रान्तीय रूपान्तरों का भी उल्लेख मिलता है, जैसे, 'चलने' के अर्थ में सौराष्ट्र (काठियावाड़) देश में "हम्मति" का प्रयोग होता है, पूर्व देशों में "रंहति" का प्रयोग होता है तथा आर्य लोगों में 'गच्छति' का प्रयोग मिलता है। इस प्रकार लौकिक संस्कृत के रूप-निर्धारण में उपर्युक्त तीन मुनियों—पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि का ही विशेष हाथ रहा। अतः ये व्याकरण के "मुनित्रय" या "त्रिमुनि" के नाम से विख्यात हैं। आगे व्याकरण के ऊपर जितने ग्रन्थ लिखे गये उनमें इन "मुनित्रय" के ग्रन्थ की ही व्याख्या मिलती है। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि इन 'मुनित्रय' के द्वारा परिष्कृत एवं संस्कारित होने के कारण यह देववाणी "संस्कृत" के नाम से अभिहित की जाती है। दण्डी ने अपने काव्यादर्श में लिखा भी है :—

"संस्कृत नाम दैवीवागन्वाख्याता महर्षिभिः।"

बाह्याकृति—उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हमें यह भली प्रकार पता चल जाता है कि किस प्रकार वैदिक संस्कृत विकसित एवं परिष्कृत होकर लौकिक संस्कृत के रूप में व्यवहृत होने लगी। अब हम यदि दोनों के अन्तर की ओर दृष्टि डालें तो कुछ बातें तो ऐसी मिलेंगी, जो बाह्यरूप से सम्बन्ध रखने वाली हैं और कुछ ऐसी बातें हैं, जो दोनों के आन्तरिक रूप से सम्बन्धित हैं। सर्वप्रथम हम दोनों के बाह्याकृति सम्बन्धी अन्तर पर विचार करते हैं। दोनों के शब्द रूपों को देखने पर बाह्याकृति सम्बन्धी अन्तर का ठीक-ठीक पता चल जाता है। शब्द का रूप-सम्बन्धी अन्तर इस प्रकार है :—

(१) वैदिक संस्कृत में अकारान्त पुल्लिंग शब्दों का प्रथमा बहुवचन रूप असस् और अस् दो प्रत्ययों के जोड़ने से बनता है। जैसे ब्राह्मणासः तथा ब्राह्मणाः। प्रथम रूप वैदिक संस्कृत में अधिक मिलता है, जबकि केवल दूसरा रूप ही लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त होता है।

(२) वैदिक संस्कृत में अकारान्त शब्दों का तृतीया बहुवचन दो प्रकार का होता है, जैसे देवेभिः तथा देवैः। परन्तु लौकिक संस्कृत में

केवल अन्तिम रूप ही ग्राह्य है।

(३) वैदिक संस्कृत में अकारान्त शब्दों का प्रथमा द्विवचन 'आ' प्रत्यय के योग से और ईकारांत स्त्रीलिंग शब्दों का तृतीया एकवचन 'ई' प्रत्यय के योग से बनता है जैसे, अश्विना तथा सुष्टुती। परन्तु लौकिक संस्कृति में द्विवचन में 'औ' तथा तृतीया एकवचन में 'आ' प्रत्यय लगती हैं, जैसे, अश्विनौ तथा सुष्टुत्या।

(४) वैदिक संस्कृत में सप्तमी का एकवचन अनेक जगहों में लुप्त हो जाता है जैसे परमे व्योमन्, परंतु लौकिक संस्कृत में यह लुप्त नहीं होता, वहाँ पर व्योमन् के स्थान पर 'व्योम्नि' या 'व्योमनि' लिखा जायगा।

(५) वैदिक संस्कृत में अकारान्त नपुंसक शब्दों का बहुवचन 'आ' तथा 'आनि' दो प्रत्ययों के योग से बनता है, जैसे 'विश्वानि अद्भुता' परन्तु लौकिक संस्कृत में यहाँ 'विश्वानि अद्भुतानि' होगा।

(६) वैदिक संस्कृत में क्रियापदों के अन्तर्गत वर्तमान काल के उत्तम पुरुष बहुबचन का रूप 'मसि' प्रत्यय लगाकर बनता है, जैसे "मिनीमसि द्यवि द्यवि"। परन्तु लौकिक संस्कृत में "मिनीमः" रूप बनता है।

(७) वैदिक संस्कृत में लोट् लकार (आज्ञा) मध्यपुरुष बहुवचन में त, तन्, थन्, तात् प्रत्यय लगते हैं जैसे, शृणोत, सुनोतन, यतिष्ठन, कृणुतात्। जबकि लौकिक संस्कृत में बहुवचन के अन्तर्गत इस लकार में ऐसे रूप नहीं मिलते।

(८) लौकिक संस्कृत में 'लिये' के अर्थ में 'तुमुन्' का प्रयोग होता है, जैसे गन्तुम्, (जाने के लिए), कर्त्तुम् (करने के लिए) द्रष्टुम् (देखने के लिये) आदि। परन्तु वैदिक संस्कृत में इस अर्थ में अनेक प्रत्यय लगते हैं, जैसे, से, असे, वसे, कसे, अध्यै, शध्यै आदि। इनसे बने हुए रूप इस प्रकार के मिलते हैं जैसे, जीवसे, पिवध्यै, दातवै, कर्तवे, जो लौकिक संस्कृत में क्रमशः जीवितुम, पातुम, दातुम, कर्तुम् लिखे जायेंगे।

(९) वैदिक भाषा में आज्ञा तथा सम्भावना दिखलाने के लिए एक नये लकार की ही योजना हैं जिसे 'लेट्' लकार कहते हैं। परन्तु इस लकार का प्रयोग लौकिक संस्कृत में बिल्कुल नहीं होता। इसी कारण

भट्टोजि दीक्षित ने 'कौमुदी' बनाते समय स्पष्ट लिख दिया है कि "एषु पञ्चमो लकारश्छन्दो मात्र गोचरः।" यहाँ पंचम लकार से तात्पर्य लेट्' लकार से ही है, क्योंकि लकारों की गणना में 'लेट्' लकार पंचम लकार है। इस लकार के उदाहरण वेदों में इस प्रकार मिलते हैं— प्र ण आयूंषि तारिषत् (हे वरुण हमारी उम्र को बढ़ाओ)। यहाँ 'तारिषत्' लेट् लकार है। लौकिक भाषा में इसकी जगह पर 'तारय' का प्रयोग होता है।

उपर्युक्त शब्दों के रूप सम्बन्धी भेद के अतिरिक्त छन्दों की दृष्टि से भी दोनों संस्कृतों में पर्याप्त अन्तर दिखाई देता है। लौकिक संस्कृत में जिन छन्दों का प्रयोग हुआ है उनके आधार तो वैदिक छन्द ही हैं, फिर भी ये छन्द उनसे सर्वथा भिन्न हैं। मुख्य छन्द तो अनुष्टुप है। इसके अतिरिक्त लौकिक संस्कृत के छन्द जितने भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं, उतने वैदिक के नहीं। साथ ही लौकिक संस्कृत के छन्द पर्याप्त परिश्रम के साथ रचे गये हैं, क्योंकि इन छन्दों में प्रत्येक चरण के वर्णों या मात्राओं की संख्या दृढ़ता के साथ स्थिर की गई है।

अन्तरात्मा—वैदिक एवं लौकिक संस्कृत में कुछ आन्तरिक बातें भी ऐसी मिलती हैं, जो दोनों के अन्तर की ओर स्पष्ट संकेत करती हैं; जैसे सर्वप्रथम, वेदों में क्षीण रूप में पाये जाने वाला पुनर्जन्म का सिद्धान्त उपनिषदों में प्रबल रूप धारण कर लेता है किन्तु लौकिक संस्कृत में तो इस सिद्धान्त का पोषण ही अत्यधिक परिश्रम के साथ हुआ है। जैसे, धर्म की स्थापना और अधर्म के उच्छेद के लिए ही विष्णु का अवतार लेना आदि। दूसरे, साधारण मानव जीवन की घटनाओं के साथ देवता या अपार्थिव जीवन का सम्मिश्रण भी लौकिक संस्कृत में देखा जाता है। इसी से यहाँ आते-आते स्वर्ग तथा पृथ्वी के निवासियों का पर्याप्त सम्मिश्रण होगया है, परन्तु वैदिक संस्कृत में यह बात कम पाई जाती है। तीसरे, अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों, पौराणिक गाथाओं तथा अन्य लौकिक घटनाओं का अत्यन्त कलापूर्ण वर्णन ही

लौकिक संस्कृत में हुआ है। वैदिक संस्कृत में तो वास्तव में धर्म-परक साहित्य लिखा गया है, उसमें लौकिक जीवन को अधिक नहीं अपनाया गया है, परंतु लौकिक संस्कृत में लौकिक विषयों को ही महत्व दिया गया है। वैदिक संस्कृत में प्रयुक्त अग्नि, वायु, वरुण, मरुत, इन्द्र आदि देवता लौकिक संस्कृत में आकर गौण होजाते हैं और उनके स्थान पर ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश ही मुख्य देवता के रूप में स्वीकार किये गये हैं। इनके साथ ही गणेश, कुवेर, सरस्वती तथा लक्ष्मी आदि कुछ नये देवता भी लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त हुये हैं। इसके अतिरिक्त वैदिक संस्कृत में सीधी और बाह्याडम्बरों से रहित कविता का ही निर्माण हुआ, जबकि लौकिक संस्कृत पर अलङ्कारशास्त्र का नियन्त्रण होने के कारण आडम्बर-प्रियता एवं कृत्रिमता ने स्थान ले लिया। इस प्रकार वैदिक संस्कृत से लौकिक संस्कृत में पर्याप्त पृथकता होगई और वैदिक साहित्य एक लौकिक साहित्य के ज्ञाता के लिए सर्वथा दुरूह एवं जटिल होगया।

अध्याय—७

आयुर्वेद-साहित्य

प्रश्न २३—संस्कृत भाषा में प्राप्त प्रमुख चिकित्सा-ग्रन्थों एवं उनके निर्माताओं का उल्लेख करते हुए भारतीय आयुर्वेद सम्बन्धी कार्यों का विवरण प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर—सर्वप्रथम अथर्ववेद की सम्मोहन क्रियाओं एवं उसमें आए हुए कौशिक-सूत्र में चिकित्सा सम्बन्धी जड़ी-बूटियों के अन्तर्गत हमें आयुर्वेद के दर्शन होते हैं। वहाँ ये सभी बातें जादू-टौने के रूप में विद्यमान हैं, परन्तु चिकित्सा-शास्त्र के प्राथमिक रूप की ओर भली-भाँति संकेत करती हैं। वैसे भी आयुर्वेद को अथर्ववेद का ही उपाङ्ग माना

जाता है। भारत में इस आयुर्वेद के ८ भाग प्रसिद्ध हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं :—

(१) शल्य (Major Surgery)
(२) शालाक्य (Minor Surgery)
(३) काय-चिकित्सा (Healing of Disease)
(४) भूत-विद्या (Demonology)
(५) कौमारभृत्य (Children Disease)
(६) अगदतंत्र (Toxicology)
(७) रसायन-तंत्र (Elixirs)
(८) बाजीकरण (Aphrodisiacs)

पतंजलि ने वेदांग, इतिहास, पुराण तथा वाकोवाक्य के साथ ही वैद्यक की भी गणना करते हुए सिद्ध किया है कि यह वैद्यक-विद्या हमारे यहाँ अत्यन्त प्राचीनकाल से ही प्रचलित थी। आत्रेय, काश्यप, हारीत, अग्निवेश, भेड आदि पुरातन ऋषियों के नाम भी इस विद्या से सम्बद्ध थे। आत्रेय को बहुधा रसायन-विद्या का प्रवर्तक बतलाया गया है। साथ ही चाणक्य को भी आयुर्वेद का विशेषज्ञ तथा आयुर्वेद ग्रन्थों का प्रणेता माना गया है। आत्रेय के एक शिष्य जीवक का नाम भी आयुर्वेद के ज्ञाताओं की नामावली में आता है। यह जीवक बौद्धभिक्षु था और यह शिशु-चिकित्सा में विशेषज्ञ था। बौद्धों के "विनयपिटक" ग्रन्थ से बौद्धों की प्रारम्भिक चिकित्सा-प्रणाली, चीर-फाड़ के शस्त्र, गर्म-स्नान के लाभ आदि का ज्ञान होता है। चीनी यात्री शिशिण्डा द्वारा दिये गए विवरण से भारतवासियों की चिकित्सा सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य बातों का पता चलता है। एक बौद्ध-स्तूप में दबी हुई सात अध्याय की एक हस्त-लिखिय प्रति चीनी-तुर्किस्तान के काशगर नामक स्थान पर प्राप्त हुई है, जिसके तीन अध्याय चिकित्सा पर ही हैं। एक अध्याय "लहसुन" के ऊपर है। उसमें लहसुन को कई रोगों का विनाशक तथा जीवन को शतायु बनाने वाला बतलाया है। एक अध्याय "नावनीतक" नाम का है जिसमें कई वैद्यों एवं चिकित्सकों के नाम आये हैं, उनमें से भारत में

केवल 'सुश्रुत' ही प्रसिद्ध हैं। यह हस्तलिखित प्रति कई खण्डों में मिली है तथा इसकी कविता प्राकृत मिश्रित संस्कृत है।

(क) आयुर्वेद सम्बन्धी प्राचीन संहितायें

१-चरक संहिता—यह संहिता अत्यन्त भग्नावस्था में मिली है। इसकी रचना शैली को देखकर भी यही जान पड़ता है कि यह कितने ही अग्निवेशों द्वारा लिखित विशेष-विशेष विषयों का संकलन मात्र है। इसमें मौलिकता एवं एकरूपता का सर्वथा अभाव है। वैसे कहा जाता है कि यह चरक द्वारा लिखी गई थी और चरक सम्राट् कनिष्क के राजवैद्य थे। साथही उन्होंने कनिष्क की पत्नी की भी चिकित्सा की थीं। कनिष्क प्रथम शताब्दी के आसपास विद्यमान थे। अतः चरक का भी प्रथम शताब्दी में होना सिद्ध होता है। यह संहिता सम्भवतः राजा कनिष्क ने ही संकलित कराई होगी। इस संहिता का प्रथम भाग "सूत्र-स्थान" है जिसमें औषधियों, पथ्य एवं चिकित्सक के कर्त्तव्यों का उल्लेख है। दूसरा भाग "निदान-स्थान" है, जिसमें आठ प्रमुख रोगों के सम्बन्ध में चिकित्सा दी हुई हैं। तीसरा भाग "विमान-स्थान" है, जिसमें आयुर्वेद सम्बन्धी कुछ प्रारम्भिक बातों की ओर संकेत किया गया है। उसमें आयुर्वेद के विद्यार्थी के लिए लिखा है कि एक आयुर्वेद के अध्येता विद्यार्थी को अपनी समस्त शक्ति इस कार्यमें लगानी चाहिए। उसे अपने प्राणों की भीं बाजी लगाकर रोगी को ठीक करनेकी चेष्टा करनी चाहिए तथा कभी भी रोगी को हानि नहीं पहुँचानी चाहिए। उसे कभी किसी व्यक्ति के प्रति बुरे विचार नहीं रखने चाहिए। आहार-विहार में संयमशील रहना चाहिए। मन, वचन तथा कर्म द्वारा रोगी को ठीक करने में कौशल प्राप्त करना चाहिए तथा सदैव आशाजनक बातें ही रोगी से करनी चाहिए। चौथा भाग "शरीर-स्थान" है, जिसमें चीर-फाड़ तथा गर्भशास्त्र सम्बन्धी बातें दी हुई हैं। पाँचवा भाग "इन्द्रिय-स्थान" है, जिसमें लक्षणों से रोगी की पहिचान तथा शरीर-गठन सम्बन्धी कुछ आवश्यक बातों का उल्लेख है। छठा भाग "चिकित्सा-

स्थान" है, जिसमें असाधारण चिकित्सा सम्बन्धी बातें दीगई हैं। सातवाँ भाग "कल्प स्थान" है और आठवाँ भाग "सिद्धिस्थान" है। इन दोनों भागों में साधारण चिकित्सा सम्बन्धी बातों का उल्लेख है। इस प्रकार समस्त "चरक-संहिता" आठ भागों में विभक्त है।

चरक संहिता में सांख्य आदि दर्शन सम्बन्धी कुछ बातों का भी उल्लेख मिलता है। उसमें कुछ न्याय तथा वैशेषिक मतों की भी चर्चा आई है, जिनके आधार पर यह ज्ञात होता है कि चरक सम्भवतः दर्शन शास्त्रों के भी ज्ञाता थे। सारी संहिता पद्य मिश्रित गद्य में लिखी हुई है और प्राचीन प्रतीत होती है। परन्तु दृधबल (Dradhbala) के कार्य के कारण यह पुरानी सी नहीं जान पड़ती। बहुत समय पहले इसका फारसी भाषा में भी अनुवाद होगया था। साथ ही लगभग ८ वीं शताब्दी में अरबी भाषा के अन्तर्गत भी इसका अनुवाद हुआ। चरक पर चक्रपाणिदत्त की प्राचीन टीका मिलती है, जो लगभग ११ वीं शताब्दी की है। इस समय वैद्यक-ग्रन्थों में "चरक-संहिता" ही सबसे प्राचीन मानी जाती है।

२-सुश्रुत-संहिता—इस संहिता का संकलन सुश्रुत द्वारा माना जाता है। ये सुश्रुत चरक के ही समान प्रसिद्ध हैं। काशगर में प्राप्त "बोअर मैनुस्क्रिप्ट्स" में आजेय ऋषि तथा हारीत ऋषि के साथ सुश्रुत का नाम भी आया है। महाभारत में सुश्रुत को विश्वामित्र का पुत्र बतलाया गया है। यह अनुमान किया जाता है कि सुश्रुत संहिता को नागार्जुन ने सँभाला था। चरक के समान ही सुश्रुत की भी ख्याति भारत से बाहर अच्छी तरह हुई थी। ६ वीं तथा १० वीं शताब्दी में ये पूर्व में कम्बोडिया तथा पश्चिम में अरब तक पर्याप्त मात्रा में प्रसिद्ध थे, परन्तु जैसे चरक-संहिता को अप्रामाणिक माना जाता है वैसे ही सुश्रुत-संहिता की प्रामाणिकता के बारे में भी विद्वान् संदेह करते हैं। अभीतक इस संहिता पर भी ११ वीं शताब्दी की लिखी हुई चक्रपाणिदत्त की टीका

प्राप्त हुई है। इस पर जय्यट तथा गयदास की पुरानी टीकाओं के बारे में भी सुना जाता है, परन्तु वे प्राप्त नहीं हैं। जय्यट की टीका के आधार पर ही सम्भवतः चन्द्रट द्वारा तैयार किया हुआ सुश्रुत संहिता का एक नवीन संशोधित संस्करण भी मिलता है। १३ वीं शताब्दी में दल्लन (Dallan) ने भी एक टीका लिखी, जो चक्रपाणिदत्त की टीका में ही सम्मिलित मिलती है।

सुश्रुत संहिता ६ भागों में विभक्त है। इसका प्रथम भाग "सूत्र-स्थान" कहलाता है, जिसमें साधारण प्रश्नों का उल्लेख है। परन्तु उनसे पता चलता है कि सुश्रुत के गुरु बनारस के दिवोदास नामक राजा थे, जो धन्वन्तरी के अवतार माने जाते थे। इस संहिता का दूसरा भाग "निदान स्थान" है, जिसमें रोगों के निदान के बारे में उल्लेख है। तीसरा भाग "शरीर स्थान" है, जिसमें चीरफाड़ तथा गर्भविज्ञान संबंधी बातें दी हुई हैं। चौथा भाग "चिकित्सा स्थान" है, जिसमें चिकित्सा सम्बन्धी आवश्यक बातों का उल्लेख है। पाँचवा भाग "कल्प स्थान" है, जिसमें विष सम्बन्धी बातों का उल्लेख है। इसका छटा भाग "उत्तर तंत्र" है, जो सम्भवतः बाद में जोड़ा गया जान पड़ता है। हार्नले का मत है कि यह बाद की लिखी हुई सुश्रुत संहिता भी उतनी ही पुरानी है जितनी कि चरक संहिता तथा भेड संहिता। परन्तु हार्नली का यह मत विश्वसनीय नहीं दिखाई देता, क्योंकि यह इस भ्रमात्मक आधार पर स्थित है कि सुश्रुत के विचार शतपथ ब्राह्मण के रचयिता को ज्ञात थे। परन्तु यह मत अप्रामाणिक सिद्ध होचुका है। सुश्रुत संहिता के अध्ययन करने पर निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं, जो एक चिकित्सक के लिए अत्यन्त उपादेय हैं :—

(क) वैद्य का ऊँचा स्तर होना चाहिए।

(ख) वैद्यक-छात्र का परिचय भी द्विजातीय सदस्य के समान छात्र की प्रारम्भिक दीक्षा पर निर्भर होता है। अतः उसे अग्नि की प्रदक्षिणा करके शरीर व जीवन की पवित्रता के विषय में अनेक उपदेश ग्रहण करना चाहिए।

(ग) वैद्यक-छात्र को लाल वस्त्र धारण करने चाहिए।

(घ) उस छात्र के नाखून तथा बाल अधिक लम्बे न होकर कटे हुए होने चाहिए।

(ङ) एक वैद्य को पवित्र मनुष्यों, मित्रों, पड़ौसियों, बिधवाओं, अनाथों, दरिद्रों और यात्रियों को अपना आत्मीय मानकर व्यवहार करना चाहिए।

(च) व्याध, शिकारी, अछूत तथा पापी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए।

३—भेड-संहिता—इस संहिता की भी अत्यन्त दोषपूर्ण एवं अप्रमाणिक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है। इसमें भी चरक-संहिता के समान ही भाग किये गए हैं। यह संहिता भी मुख्यतः श्लोकों में लिखी गई है तथा कुछ भाग गद्य में भी है। चरक-संहिता से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि इस संहिताकार को सम्भवतः सुश्रुत का भी ज्ञान था। इसमें वर्णित अस्थि-विज्ञान के बारे में हार्नले का मत है कि यहाँ पर आत्रेय की पद्धति का ही अनुसरण किया गया है। यही पद्धति चरक तथा भेड के साथ-साथ याज्ञवल्क्य-स्मृति, विष्णु-स्मृति तथा अग्नि-पुराण में भी अपनायी गई है, परन्तु याज्ञवल्क्य स्मृति में जो सूची मिलती है उसकी प्रामाणिकता में सन्देह है।

४—काशगर में प्राप्त बोअर मैनुस्क्रिप्ट्स—लगभग चौथी शताब्दी की लिखी हुई आयुर्वेद संबंधी कुछ हस्तलिखित प्रतियाँ काशगर में मिली हैं, जो 'बोअरमैनुस्क्रिप्ट्स' अथवा बोअर हस्तलिखित प्रतियाँ कहलाती हैं। इन प्रतियों में कुछ निबंध से लिखे हुए हैं, जो चिकित्साशास्त्र पर आधारित हैं तथा आयुर्वेद संबंधी कितनी ही ज्ञातव्य बातों की ओर बड़ी सफलता के साथ संकेत करते हैं। इनमें से एक निबध "लहसुन" पर है, जिससे लहसुन को अत्यन्त गुणकारी बतलाया है। दूसरे निबंध में सहस्रायु प्राप्त करने के लिए एक रसायन बनाने की प्रणाली बतलाई गई है। साथ ही आँख के विभिन्न रोगों तथा अन्य

आवश्यक विषयों का भी विवेचन किया गया है। तीसरे निबंध में बीमारियों के अन्दर आन्तरिक एवं बाह्य उपचार के लिए लगभग १४ रीतियाँ दी गई हैं। साथ ही "नावनीतक" (Navnitaka) को प्रधानता दी है। इस निबंध में अर्क, रसायन, चूर्ण, तैल, अवलेह आदि का विवेचन है तथा शिशु-रोग सन्बन्धी अनेक आवश्यक बातें बतलाई गई हैं। यह निबंध पद्य-बद्ध है। इसके अन्तर्गत आत्रेय, क्षारपाणि, जातुकर्ण, पाराशर, भेड, हारीत, पुनर्वसु तथा आत्रेय के लगभग सभी पुत्रों के नाम आये हैं। परन्तु आश्चर्य यह है कि चरक जैसे विश्व-विश्रुत लेखक का नाम इस सूची में नहीं मिलता। आत्रेय चरक के गुरु थे। सम्भवतः इसी कारण गुरु के साथ शिष्य का नाम नहीं दिया गया है। इन समस्त निबंधों की भाषा प्राकृत से प्रभावित संस्कृत है, जो बौद्ध संस्कृत के समकक्ष है। तुर्किस्तान में पाये गये "चिकित्सा संबंधी नुसखों" के अन्दर भी ईरानी भाषा के एक सस्करण के साथ-साथ बिगड़ी हुई संस्कृत भी मिलती है। सम्भवतः प्राचीन वैद्य लोग संस्कृत भाषा की विशेषताओं से पूर्ण परिचित न थे।

ख—उत्तरकालीन ग्रंथकार तथा उनकी रचनाएँ

१—**वाग्भट्ट**—सुश्रुत के पश्चात् मानते हुए भी वाग्भट्ट को भारतीय चिकित्सा-शास्त्र का तीसरा प्रमुख लेखक माना जाता है। भारत में इस नाम के दो लेखक मिलते हैं। दोनों ने अपने-अपने माँ-बापों का एक समान उल्लेख किया है। परन्तु फिर भी प्रथम वाग्भट्ट सिंहगुप्त का लड़का था तथा द्वितीय वाग्भट्ट इसी प्रथम का नाती था। उसका गुरु बौद्ध अवलोकित था। द्वितीय वाग्भट्ट ने प्रथम वाग्भट्ट के ग्रन्थ "अष्टांग संग्रह" के आधार पर ही "अष्टांग हृदय संहिता" का निर्माण किया है, जिसका पता दोनों की तुलना करने पर चल जाता है। प्रथम वाग्भट्ट की तिथि के लिए चीनी यात्री इत्सिंग के लेखों में एक वृद्ध पुरुष का विवरण मिलता है, जिसने उस समय चिकित्सा-शास्त्र के आठ विषयों का संक्षिप्त रूप उपस्थित किया था। कीथ के मतानुसार प्रथम वाग्भट्ट

लगभग छठी शताब्दी में हुआ था और द्वितीय वाग्भट्ट उससे दो शताब्दी बाद हुआ था। द्वितीय वाग्भट्ट भी प्रथम का ही वंशज था इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता। सम्भवतः दोनों ही बौद्ध थे। वाग्भट्ट के ग्रन्थ का तिब्बती भाषा में भी अनुवाद हुआ था। दोनों लेखकों ने चरक तथा सुश्रुत से उदाहरण लिये हैं।

२—माधवकर—आठवीं या नवीं शताब्दी के अन्तर्गत इन्दुकर के पुत्र माधवकर ने "रुजविनिश्चय" नामक ग्रंथ लिखा, जिसमें रोगों के निदान का विशेष उल्लेख है। निदान-सम्बन्धी उल्लेख के कारण ही आगामी भारतीय चिकित्सा-पद्धति में यह ग्रन्थ विशेष महत्व रखता है। ये माधवकर दृधबल से पूर्ववर्ती थे। 'रुजविनिश्चय' में रोगों के निदान का विशेष वर्णन होने के कारण इस ग्रंथ को "माधवनिदान" के नाम से भी पुकारा जाता है। इसमें प्रायः सभी प्रमुख बीमारियों के लक्षणों का विस्तृत विवेचन है तथा अनुकूल औषधियों को भी बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त एक "सिद्धयोग" नामक ग्रंथ और मिलता है, जिसमें माधवकर की ही भाँति रोगों का वर्णन है। अतः कुछ विद्वान् इस ग्रन्थ को भी माधवकर का लिखा हुआ मानते हैं।

३—चक्रपाणिदत्त—ये बङ्गाल के रहने वाले थे। इन्होंने चरक-संहिता तथा सुश्रुत संहिता पर टीकायें लिखी हैं। इनका रचनाकाल १०६० ई० है। मैकडानल के कथनानुसार इन्होंने "चिकित्सासारसंग्रह" नामक एक ग्रन्थ लिखा था, जो "सिद्धयोग" के आधार पर है।

४—भिल्हण—इनका लिखा हुआ केवल एक ही ग्रन्थ मिलता है, जो "चिकित्सामृत" के नाम से प्रसिद्ध है।

५—नागार्जुन—इनके रचे हुए दो ग्रन्थ मिले हैं, जिनके नाम-क्रमशः "योगसार" तथा "योगशतक" हैं। नागार्जुन का नाम आयुर्वेदवेत्ताओं में अधिक प्रसिद्ध है। इनका बनाया हुआ "रसरत्नाकर" नामक ग्रन्थ भी माना जाता है।

६—**वोपदेव**—ये केवल टीकाकार हैं और इन्होंने शार्ङ्गधर-संहिता पर टीका लिखी है। ये केशव वैद्य के सुपुत्र थे।

७—**भावमिश्र**—इनका लिखा हुआ केवल एक ग्रन्थ उपलब्ध है, जो "भावप्रकाश" के नाम से प्रसिद्ध है। वैद्यक-साहित्य में इस ग्रन्थ का भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है तथा अधिकांश चिकित्सक इसी के अनुसार चिकित्सा करते हैं।

८—**लोलम्बिराज**—इनके लिखे हुए दो ग्रन्थ मिलते हैं, जो "वैद्यजीवन" तथा "वैद्यावतन्स" के नाम से प्रसिद्ध हैं। दोनों ही आयुर्वेद के महत्वशाली ग्रन्थ हैं।

९—**सूरपाल**—इनका केवल एक ही ग्रन्थ मिलता है, जो "वृक्षा-युर्वेद" के नाम से प्रसिद्ध है।

ग—धातु संबंधी साहित्य

संस्कृत के अन्तर्गत ७ धातुओं की चिकित्सा सम्बन्धी विशेषताओं का दिग्दर्शन कराने के लिए पर्याप्त मात्रा में साहित्य निर्मित हुआ है। इसमें से "रसेश्वर" ग्रन्थ प्रमुख है। इसमें वर्णित रसेश्वर जीवनदाता तथा नाना प्रकार की बीमारियों को दूर करने वाला कहा गया है। इस के द्वारा खराब धातुओं से सोना बनाया जा सकता है। इसी तरह के और ग्रंथ भी मिलते हैं। जिनमें से "अमरयौवन", "सहस्रायु", "क्रूरयता", "अपराजिता" आदि प्रसिद्ध हैं। इन ग्रंथों की रचना--तिथियाँ अनिश्चित हैं। नागार्जुन के "रस-रत्नाकर" को रे महोदय ने सातवीं या आठवीं शताब्दी का बतलाया है, परन्तु यह तिथि भी ठीक नहीं दिखाई देती। एक "रसार्णव" नामक ग्रंथ भी मिलता है जो १२ वीं शताब्दी का माना जाता है। १०३० ई० में अलबरूनी ने भी कुछ रसायन ग्रन्थों का उल्लेख किया है, परन्तु उनकी कोई निश्चित तिथि नहीं दी है।

घ—आयुर्वेद शब्द-कोश

आयुर्वेद का सब से प्राचीन कोश "धन्वन्तरि निघंटु" माना जाता है। परन्तु इसमें पारे (Mercury or Quicksilvir) का वर्णन होने के कारण यह ग्रंथ वाग्भट्ट के बाद का प्रतीत होता है। कुछ विद्वान् इस निघंटु को अमरकोश से भी प्राचीन मानते हैं। बंगाल के भीमपाल के लिए १०१५ ई० में सूरेश्वर ने "शब्दप्रदीप" की रचना की थी। इसके उपरान्त १३ वीं शताब्दी में नरहरि ने एक आयुर्वेद कोश तैयार किया, जो 'राज निघंटु' के नाम से प्रसिद्ध है। सन् १३७४ ई० में मदनपाल ने एक "मदन-विनोद-निघंटु" नामक आयुर्वेद का कोशग्रंथ लिखा। उसका "पथ्यापथ्य निघंटु" भी मिलता है।

इस प्रकार संस्कृत भाषा के अन्तर्गत आयुर्वेद साहित्य की पर्याप्त मात्रा में मिलता है। कारण यह है कि यहाँ आयुर्वेद का विकास अत्यन्त प्राचीन काल में ही होगया था। यहाँ पर वेदों के उपरान्त ही कुछ उपवेद रचे गये। चारों वेदों के चार उपवेद बने। उनमें से आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद तथा शिल्पवेद प्रसिद्ध हैं। यह चौथा उप-वेद कुछ विद्वानों की दृष्टि में तंत्र ही है। इन समस्त उपवेदों में आयु-र्वेद अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया। आयुर्वेद सम्बन्धी अनेक बातों का उल्लेख अथर्ववेद में भी मिलता है। भारतवर्ष में चरक तथा सुश्रुत की संहितायें ही आयुर्वेद के प्रमुख ग्रंथ माने जाते हैं। इनके उपरान्त वाग्भट्ट का "अष्टांगहृदय" महत्वपूर्ण माना गया है। इस प्रकार ये तीनों ग्रंथ ही आयुर्वेद की "वृहत्त्रयी" कहलाते हैं। इनके उपरान्त भी आयुर्वेद पर कितने ही ग्रन्थ लिखे गये, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। किंतु आधुनिक काल में म० म० गणनाथ सेन का "प्रत्यक्ष-शारीरम्" आयुर्वेद साहित्य का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। कुछ विद्वानों का यह विचार है कि भारतीय आयुर्वेद प्रणाली पर यूनानी चिकित्सा-प्रणाली का अधिक प्रभाव पड़ा है। आयुर्वेद के ग्रन्थों का अध्ययन करने पर यूनानी चिकित्सा प्रणाली से कुछ साम्य तो अवश्य मिलता है,

जैसे यूनानी तथा भारतीय भेषज-पद्धति में प्रायः अधिक समानता है। यहाँ पर रोगों का निदान, बुखार की तीन दशायें, चूर्ण आदि के प्रयोग, वैद्य के आचरण एवं व्यवहार आदि में भी यूनान से समानता मिलती है। गर्भसंबंधी रोग तथा बवासीर आदि के लिए भी यूनान की ही भाँति यहाँ भी चिकित्सा प्रचलित है। साथ ही खून चूसने वाले कीड़ों का प्रयोग दोनों स्थानों पर समान रूप से पाया जाता है। परन्तु इतना साम्य होते हुए भी विषमताएँ भी कितनी ही हैं; जैसे यहाँ शराब का प्रयोग औषधियों में नहीं होता। हार्नली का तो यहाँ तक मत है कि बहुत सी जड़ी-बूटियाँ यूनानी लोग भारत से ही मँगाया करते थे। अतः हार्नली तो यूनानी चिकित्सा-प्रणाली का भारतीय चिकित्सा-प्रणाली पर प्रभाव नहीं मानता। इतना अवश्य है कि भारतवर्ष में शल्य चिकित्सा का अधिक विकास नहीं हुआ। भारतीय वैद्य इस ओर सदैव उदासीन ही रहे। संभवतः उनकी धार्मिक भावना ने भारतीय शल्य-चिकित्सा का विकास नहीं होने दिया। वैसे अन्य चिकित्साओं में तो भारत का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है।

अध्याय—८

प्राचीन भारतीय संस्कृति

प्रश्न २४—ऋग्वेदकालीन भारत की सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति का स्पष्ट विवेचन कीजिए।

उत्तर—विद्वानों ने प्राचीन पुष्ट प्रमाणों के आधार पर आज यह भली प्रकार सिद्ध कर दिया है कि भारतीय, ईरानी, यूनानी, जर्मन, इटैलियन आदि सभी निवासियों के पूर्वज एक ही थे। ये लोग मध्य एशिया, हंगरी, आस्ट्रिया नार्वे किसी प्रदेश में पहले एक ही स्थान पर रहते थे। ईरानियों की धार्मिक पुस्तक अवेस्ता तथा ऋग्वेद के अध्ययन

से ज्ञात होता है कि प्राचीन पूर्वजों की पूर्वीशाखा के पश्चिमी शाखा से विलग होने के उपरान्त पर्याप्त समय तक प्रथम ईरानी शाखा के लोग अपने आपको अन्य आर्यों से अलग बनाने के लिए आर्य कहलाते हुए ही एक साथ रहे। ईरानियों से अलग होकर पूर्वीय आर्य पश्चिमी देशों में होते हुए भारत में आये। जिस देश में आकर ये लोग सर्व प्रथम बसे उसे ऋग्वेद में सिंधु नाम दिया है। इससे यह सिद्ध होता है भारत में सबसे पहले आर्य लोग सिंधु नदी के किनारे पंजाब में आकर बसे होंगे। वहाँ पर ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्रों की रचना भी हुई होगी। इसके उपरान्त आर्यों ने गंगा के समीपवर्त्ती प्रदेशों की ओर बढ़ना प्रारम्भ किया। इन प्रदेशों में आकर ही ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों का निर्माण हुआ। विद्वानों की राय है कि आधुनिक सिंधु नदी ही ऋग्वेद की अत्यन्त प्रशंसित सरस्वती है। परन्तु कुछ विद्वान् सरस्वती नदी का अस्तित्व अफगानिस्तान में बतलाते हैं और समस्त ऋग्वेदकालीन भारत को नदियों के तीन सप्तकों में विभक्त करके सरस्वती सप्तक, सिंधु सप्तक तथा गंगा सप्तक में बसा हुआ बतलाते हैं। इस दृष्टि से सरस्वती तथा सुमेरु पर्वत हिंदुकुश के आस पास ठहरते हैं। अन्य नदियों में वितस्ता (झेलम), आसिक्नी (चिनाव), इरावती (रावी), वियास (व्यास), शतद्रु (सतलज) तथा यमुना का वर्णन भी ऋग्वेद में मिलता है। भारत की अत्यन्त प्रसिद्ध एवं पवित्रतम नदी गंगा का उल्लेख ऋग्वेद के दशम मण्डल के १५ वें सूक्त के ५ वें मन्त्र में केवल एक बार ही मिलता है। कुभा (काबुल), कुसम, गोमती, स्वाँत आदि नदियों का उल्लेख मिलता है।

ऋग्वेदकाल की प्रसिद्ध जातियों में से गांधारी, पुरु तथा भारत के नाम उल्लेखनीय हैं। ऋग्वेद में कहीं भी अंजीर वृक्ष तथा चीते का वर्णन नहीं मिलता। अतः यह सिद्ध है कि ऋग्वेद काल में आर्य लोग पूर्व की ओर नही बढ़ सके थे। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में नगर तथा ग्रामों का भी वर्णन आया है। सातवें मण्डल में लौह-दुर्ग का भी उल्लेख मिलता है। यद्यपि दुर्ग के बारे में यह लिखा गया है कि देवता

लोग उसकी रक्षा करते थे और वह दैवी साधनों से सम्पन्न था, फिर भी दुर्ग कई दीवारों से घिरा रहता था इसका भी आभास मिलता है। ऋग्वेद में वर्णित दाशराज्ञ युद्ध के आधार पर पता चलता है कि उस काल में राजनैतिक अवस्था पर्याप्त विकसित थी। यह दाशराज्ञ युद्ध सुदास के द्वारा अनार्यों पर विजय प्राप्त करने के लिए हुआ था। ऋषि विश्वामित्र, वशिष्ठ, भृगु आदि पुरोहित ही इस युद्ध के नायक थे। सुदास की विजय ने उसे ऋग्वेदकालीन भारत का सम्राट् बना दिया था। इसी प्रकार और भी युद्ध उस काल में हुए, जिनसे तत्कालीन स्थिति का पता चलता है। उस समय जनता में ही राजा का निर्वाचन हुआ करता था। राजा का मुख्य कर्त्तव्य समाज की रक्षा, धर्म-व्यवस्था तथा दंड का समुचित विधान करना माना जाता था। राजा का मंत्री प्रायः पुरोहित ही हुआ करता। राजा भव्य प्रासादों में रहता था और सुन्दर-सुन्दर अलंकारों तथा उज्वल वस्त्रों को धारण करता था। उस काल में वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋषि ही पुरोहित का कार्य करते थे। यह पुरोहित घरेलू तथा धार्मिक मामलों में अत्यन्त आदरणीय माना जाता था। युद्ध के अवसर पर भी यह प्रार्थना के लिए उपस्थित होता था तथा सेनानी एवं ग्रामणी इसीके सहायक होते थे। राजा को सहायता पहुँचाने के लिए सभा तथा समिति भी होती थी। परन्तु ऋग्वेद में इनकी कार्य प्रणाली का कोई विशेष वर्णन नहीं मिलता। ऋग्वेद में सभा का अर्थ केवल वयोवृद्धों एवं भद्र पुरुषों के समूह से है। न्यायाधीश ग्राम-वाहिन कहलाता था। युद्ध में रक्षार्थ कवच रूप में धातु के टुकड़ों से सिला हुआ कोट पहना करता था जिसका शीर्ष भाग लोहे या ताँबे का होता था। तलवार, म्यान, भाला, रथ, पैदल, घोड़े, धनुष-बाण आदि का उल्लेख भी ऋग्वेद में मिलता है।

ऋग्वेद में अनार्यों को दास, दस्यु या असुर कहा गया है। युद्ध के समय की भयानक स्थिति, सिंहनाद आदि का वर्णन भी ऋग्वेद में मिलता है। आर्यों एवं अनार्यों में सामाजिक रीति रिवाजों तथा शारीरिक दृष्टि से भी भिन्नता थी। अनार्य काले, चपटी नाक वाले, संस्कृत

* हवन के लिए पकाया हुआ अन्न, बिना माड़ निकाला हुआ भात।

विरुद्ध भाषा-भाषी, वैदिक देवों को न मानने वाले तथा यज्ञ विरोधी थे। आर्यों ने अपनी सत्ता स्थापित करने के लिये उन्हें जंगलों की ओर मार भगाया था। जिन्होंने आधीनता स्वीकार करली थी, उन्हें शूद्र जाति में मिला लिया था। जिस समय आर्य लोग भारत में आये उनके सामने तीन प्रमुख कार्य थे—विजय, देशबसाना तथा सभ्यता फैलाना। अनार्यों का जीतना उस समय सरल न था, क्योंकि उनकी सभ्यता भी अत्यन्त सुदृढ़ थी। ऋग्वेद में उनके पुर, गढ़, दुर्ग आदि का वर्णन मिलता है। उनके दुर्ग भी पत्थर और लोहे के होते थे तथा कोई कोई तो १०० स्तम्भों पर बनाया जाता था। इन दुर्गों के भग्नावशेष हड़प्पा तथा मोहिनजोदिड़ो की खुदाई में प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार आर्यों और अनार्यों के युद्ध के अनेक उदाहरण मिलते हैं। एक युद्ध में तो पचास हजार अनार्यों के बध का उल्लेख है। दूसरे में तीस हज़ार अनार्यों के मारे जाने का वर्णन मिलता है। कुछ दुर्गों के ढहाने के भी उल्लेख मिलते हैं। आर्य लोग युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए बहुधा इन्द्र की स्तुति किया करते थे।

आर्यों का भोजन जौ की रोटी तथा चरु* था। यज्ञ में जौ की ही आहुतियाँ दी जाती थीं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में चावल का उल्लेख नहीं मिलता। बाद में तो यही यहाँ की मुख्य उपज बन गया था तथा इसे ही भोजन के लिए अधिक काम में लाया जाता था। तीसरे मण्डल में कई बार भुने हुए तथा उबले हुए अन्न का उल्लेख मिलता है। दूध तथा रस का प्रयोग भी आर्य लोग करते थे। यज्ञों में दूध के अतिरिक्त रोटी, दही, मक्खन आदि से मिश्रित भोजन ही देवताओं को दिया जाता था। आर्य लोग धारोष्ण दूध को अधिक महत्व देते थे। कई पौधों का वर्णन भी मिलता है। बलिकर्म के लिए बैलों के काटने का भी उल्लेख है। यद्यपि आर्य लोग गौ को पवित्र मानते थे। परन्तु "अघन्य" शब्द के आधार पर पता चलता है कि विशेष अवसर पर गौ का भी बध होता था। प्रायः देवताओं बकरियों, भेड़ों आदि को पकाकर खाने का उल्लेख भी ऋग्वेद में मिलता है। सोमरस का तो उस समय अत्यधिक प्रचार

था। इसके मदजनित प्रभाव का भी वर्णन आया है। अतः सुरापान तथा माँस भक्षण भी आर्यों में उस समय प्रचलित था।

आर्य लोग ऋग्वेद काल में जीविका के लिए पशु पालन को अधिक महत्व देते थे। वैसे ये लोग कृषि भी करते थे। इनका मुख्य पशु बैल था। प्रायः मूल निवासियों द्वारा इनके पशुओं पर आक्रमण हुआ करते थे और पशुओं के लिये ही युद्ध भी होते थे। अतः ऐसे युद्धों को 'गविष्ठ' कहा गया है। उस समय गाय-बैलों से देवी-देवताओं की भी उपमा दी जाती थी। घोड़े का उस काल में अधिक महत्व था। वह रथ, युद्ध तथा मनोरंजन के लिए होने वाली घुड़-दौड़ में काम आता था। इन सभी पशुओं की रक्षा के लिए ऋग्वेद में कई प्रार्थना-मन्त्र मिलते हैं। कुत्तों के पालने का भी उल्लेख मिलता है। ये कुत्ते ही आर्यों के जानवरों की रक्षा किया करते थे तथा शिकार में भी सहायता पहुँचाते थे। उस काल में पशुओं की पहँचान के लिए उनके कानों पर चिह्न बनाये जाते थे। ऋग्वेद में कृषि पर भी अधिक जोर दिया गया है। हलों में प्राय ६ से लेकर १२ तक बैल जोते जाते थे। 'वपन्तः, लुनन्तः, मन्वन्तः' शब्दों से उस काल में बोने, काटने तथा मीड़ने की क्रिया का भी संकेत मिलता है। कुँआ तथा झीलों से सिंचाई की जाती थी। कृत्रिम तथा प्राकृतिक जल-मार्गों का भी वर्णन मिलता है। यव और धान्य ये दो अन्न ही उस काल में उत्पन्न होते थे। आखेट धनुष बाण द्वारा गड्ढा खोदकर किया जाता था। हाथी, शेर, शूकर, मृग आदि जानवरों का ही आखेट किया जाता था।

ऋग्वेद काल में व्यवसाय तथा दस्तकारी के रूप में बढ़ई तथा रथ कार ही प्रसिद्ध थे। वैसे लुहार, सुनार आदि का भी वर्णन मिलता है और ये लोग आग में लोहे को गर्म करके उसे पीटकर वर्तन बनाया करते थे। सोना भी उस काल में नदियों की घाटियों तथा अन्य खानों में मिलता था। चर्मकार चमड़े को रँगते तथा पकाते थे। बुनाई का काम प्रायः स्त्रियाँ किया करती थीं। आर्य लोग विमान बनाना भी जानते थे। खोखले पेड़ों को नाव के रूप में काम में लाते थे। उनके द्वारा ही नदियाँ

पार किया करते थे। उस समय जल-मार्ग द्वारा व्यापार का पता नहीं चलता। रस्सी बटने तथा खालों की बोतल एवं पेटियाँ बनाने का उल्लेख भी ऋग्वेद में मिलता है। आर्यों में अदल-बदल की रीति प्रचलित थी। ऋण का लेन देन चलता था। वस्त्रों में नीवी या अधोवस्त्र प्रायः भेड़ों की ऊन के होते थे। बहुधा सोने के कढ़े हुए दुपट्टे प्रयोग में लाये जाते थे। साधु लोग खाल के वस्त्र पहनते थे। आभूषणों में कंगन, चूड़ी तथा बाजू, हार, कड़े आदि का वर्णन मिलता है। बाल रखाने तथा दाढ़ी बढ़ाने का भी शौक था। कुछ लोग बाल बनवाते भी थे। बीन, तुरई, ढोल आदि वाद्यों का भी उल्लेख मिलता है। आमोद-प्रमोद के लिए गाना-बजाना तथा रथ-दौड़ एवं घुड़-दौड़ भी हुआ करती थी। जूआ खेलने की भो प्रथा थो। प्रायः ज्वारी लोगों को घृणा की दृष्टि से भी देखा जाता था।

पारिवारिक जीवन में स्त्री का उच्चस्थान था विवाह-संस्कार पवित्र माना जाता था उस काल में नैतिक स्तर पर्याप्त ऊँचा था। यदा कदा सती प्रथा का भी उल्लेख मिलता है। विधवा एवं बाल-विवाह विहित न था। वर्ण व्यवस्था में कट्टरता न थी। पर्दा-प्रथा बिल्कुल न थी। स्त्रियाँ स्वतंत्रतापूर्वक पुरुषों से वाद-विवाद किया करती थीं। उस समय "सादा जीवन उच्च विचार" वाला सिद्धान्त माना जाता था। उस समय आर्य मन्त्र ज्ञान में सर्वोच्चस्थान रखते थे। पाठक का घर ही विद्यालय था। अध्ययन मौखिक रूप में प्रचलित था। तप द्वारा ज्ञानार्जन करना ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य था। उस काल में तीन प्रकार के विवाह प्रचलित थे—ब्राह्म, पैशाच तथा गान्धर्व। विवाह प्रायः गोत्र में ही होते थे। बहु विवाह प्रथा न थीं। अन्तर्जातीय विवाह से तात्पर्य भाई बहिन का विवाह था। ऐसे विवाह नहीं होते थे। जाति-परिवर्तन भी होता रहता था। पुत्र-तथा पुत्री दोनों का बराबर स्थान था। स्त्रियाँ भी विदुषी होती थीं। विश्वारा, घोषा, असारा ने ऋग्वेद के सूत्र लिखे हैं। आर्थिक दृष्टि से लड़के को ही सम्पत्ति का अधिकारी माना जाता था। यदि कोई लड़का न होता था तब पुत्री भी अधिकारिणी हो सकती थी।

ऋग्वेद में सर्वत्र धार्मिक जीवन की ही प्रधानता है। उस काल में चार प्रकार के देवता मिलते हैं। प्रथम प्राकृतिक शक्ति के रूप में हैं जैसे द्यौ, पृथ्वी, वरुण, सूर्य, पर्जन्य आदि। द्वितीय कल्पित गृह देवता हैं, जैसे अग्नि, सोम आदि। तृतीय भावजन्य देवता हैं जैसे श्रद्धा तथा मन्यु आदि। चौथे कुछ गौण देवता हैं जिनमें से गन्धर्व, अप्सरा आदि प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार उस समय बहु देवोपासना प्रचलित थी। यज्ञों की प्रथा भी खूब बढ़ी चढ़ी थी। कुछ ऐसे भी यज्ञ थे जो केवल राजा के करने के लिए ही थे। जिनमें राजसूय, अश्वमेध प्रसिद्ध हैं। उस समय कुछ आर्य लोग उपनिषद् के दार्शनिक विचारों की ओर भी मुड़ने लगे। पीछे सभी देवों के स्थान पर प्रजापति की स्थापना हुई। ऋग्वेद में मरने के बाद यमलोक के जीवन के बारे में भी विश्वास मिलता है। परन्तु आर्यों का अधिक ध्यान उस वर्तमान जीवन को सुखी और सम्पन्न बनाने की ओर लगा रहता था। उन्हें भविष्य की चिंता किंचित् मात्रा में भी न थी। आर्य लोगों ने ईश्वर की भी कल्पना की और उसे सर्व व्यापक तथा सब वस्तुओं का निर्माता माना था। इस प्रकार आर्यों का प्राचीन जीवन अत्यन्त सुखी एवं सम्पन्न था।

प्रश्न २५—उत्तर वैदिककालीन सामाजिक एवं राजनैतिक स्थितियों का विस्तारपूर्वक उल्लेख कीजिए।

उतर—वैदिक काल के अन्तर्गत ऋग्वेद से लेकर उपनिषदों तक का समय आता है। ऋग्वेद में जिस राजनैतिक एवं सामाजिक स्थिति का चित्रण है, उसकी अपेक्षा आगामी संहिताओं ब्राह्मणों एवं उपनिषदों में पर्याप्त अंतर मिलता है। जैसे-जैसे अन्यसंहिताओं ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों का विकास हुआ वैसे ही वैसे सभ्यता तथा संस्कृति में भी परिवर्तन प्रस्तुत हुआ और उसी अनुपात में राजनैतिक स्थिति में भी परिवर्तन हुआ। अतः समस्त उत्तर वैदिककालीन राजनैतिक एवं सामाजिक स्थिति ने लिए चारों सहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों

उपनिषदों आदि में वर्णित स्थिति का जानना आवश्यक है।

१—राज्यविस्तारः—ऋग्वेदकाल में आर्यों के राज्य एवं सभ्यता का विस्तार पञ्जाब से पूर्व की ओर सरस्वती तथा ईषदवती नदियों के मध्यम भाग की भूमि तक ही सीमित था परन्तु आगे चलकर इस सभ्यता का केन्द्र कुरुक्षेत्र होगया और आर्यों के राज्य के अन्तर्गत कुरु, पांचाल के साथ-साथ मध्य देश भी आगया। कुछ ही काल के पश्चात् कुरु, पांचाल के पूर्वी भाग की ओर भी आर्य लोग बढ़े और कोशल (मगध) विदेह (उत्तरी विहार), मगध (दक्षिण विहार) अङ्ग (पूर्वी विहार) आदि प्रदेशों पर भी अपना अधिकार करलिया। मैत्रेयी उपनिषद के आधार पर यह भी पता चलता है कि दक्षिण में आर्यों ने विंध्याचल के निकट आंध्र, पुलिंद, रुबर, नैषध आदि देशों पर भी आधिपत्य स्थापित कर लिया था।

ऋग्वेद के अन्तर्गत कुरु, पांचाल, भरत, पुरु आदि प्रदेशों के जिन राजाओं का उल्लेख मिलता है, उनमें से कुरु, पांचाल ही प्रमुख थे। कारण यह है कि ये शुद्ध संस्कृत-वक्ता तथा यज्ञ-कर्त्ता राष्ट्र थे। कौषीतकि ब्राह्मण के आधार पर ज्ञात होता है कि इन दोनों राज्यों के विद्यालय भी थे। प्रायः लोग कुरु-पांचाल-परिषद में ही शुद्ध वक्तृता सीखने के लिये आया करते थे। कुरु और पांचालों की शत्रुता का वर्णन ऋग्वेद में नहीं मिलता। उससे यह स्पष्ट है कि परीक्षित व जनमेजय के राजत्व-काल में आर्यों की सभ्यता तथा उनका वैभव पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार आर्य लोगों ने इस काल में पूर्व की ओर बढ़ कर काशी कोशल तथा विदेह में भी अपने राज्य की स्थापना की थी और इन प्रदेशों को आर्य-सभ्यता का केन्द्र बनाया था। अथर्वसंहिता से पता चलता है कि सुदूर पूर्व में स्थित मगध तथा अङ्ग प्रदेश पहले आर्यों द्वारा घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे। कारण यह था कि इन देशों में रहने वाले व्यक्ति ब्राह्मण धर्म को नहीं मानते थे, न संस्कृत ही बोलते थे और न यज्ञ ही करते थे। वे अनार्य कहे गये हैं और आर्य लोग महामारी, ज्वर आदि बुरे-बुरे रोगों को इन देशों के

निवासियों की ओर ही भेजा करते थे।

२—सामाजिक स्थिति—ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के १५, १६, १८ तथा पुरुषसूक्त के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अपने-अपने व्यवसायों के आधार पर तत्कालीन जनसंख्या चार वर्णों में विभक्त होगई थी और आर्य लोग अनार्यों की अपेक्षा अपने को पवित्र माना करते थे। परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि ऋग्वेद काल में सूत्र-काल जैसी जातीय कट्टरता नहीं थी। ऋग्वेद में अन्तर्जातीय विवाह का अर्थ भाई-बहिन, पिता-पुत्री आदि के पारस्परिक विवाह से था। शतपथ ब्राह्मण में विवाह दो-तीन गोत्रों को छोड़कर विहित बतलाया गया है। उस काल में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय किसी भी अन्य जाति से विवाह सम्बन्ध कर सकते थे। यहाँ तक कि शूद्रों से भी विवाह करने का निषेध उस काल में नहीं मिलता। क्षत्रिय राजा शर्यात् की पुत्री सुकन्या का विवाह च्यवन ऋषि के साथ हुआ था। उस समय जाति परिवर्तन जैसी कोई बात न थी। यदि कोई अपनी जाति बदलना चाहता था तो वह आसानी से ऐसा कर सकता था। विश्वामित्र को ऋग्वेद में ऋषि कहा गया है। परन्तु ऐतरेय ब्राह्मण में उन्हें क्षत्रिय बतलाया गया है तथा कुछ अन्य ग्रन्थों में उन्हें राजर्षि कहा गया है। उपनिषदों में कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनके आधार पर यह पता चलता है कि क्षत्रिय लोग ब्राह्मणों को पढ़ाया करते थे। जैसे राजा जनक, अश्वपति कैकेय, अजातशत्रु तथा प्रवहण आदि ऐसे ही क्षत्रिय राजा थे, जिनके समीप ब्राह्मण विद्यार्थी अध्ययन करने आया करते थे। इस तरह इन उदाहरणों द्वारा जाति-परिवर्तन के साथ-साथ व्यवसाय परिवर्तन की ओर भी संकेत मिलता है। साथ ही यह भी आभास मिलता है कि क्षत्रिय लोग पर्याप्त मेधावी थे और ब्राह्मण विद्यार्थियों के संरक्षक भी थे। इतना अवश्य है कि वैश्य आदि अन्य किसी जाति के बारे में ऋग्वेद के अन्तर्गत यह उल्लेख नहीं मिलता कि वे लोग ब्राह्मण या पुरोहित के पद के अधिकारी बन गये। अतः स्पष्ट है कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय इन दोनों जातियों में परस्पर घनिष्ठता थी।

एत्तरेय ब्राह्मण में ब्राह्मण को प्रतिग्रही, सोमपान करने वाला, अदायी, अव्यवसायी, सदा भ्रमणशील, स्वेच्छानुकूल गमन करने वाला तथा राज्याश्रयी कहा गया है। राजा की आज्ञा से वैश्य किसी भी समय राज्य से बाहर निकाला जा सकता था तथा शूद्र भी सदैव दंड्य था, परन्तु ब्राह्मण के लिए दण्ड-विधान नहीं मिलता। यदि शूद्र, राजा से विरुद्ध होजाता था तो उसकी सम्पत्ति तथा उसके जीवन पर राजा का ही अधिकार होजाता था। धार्मिक विषयों में ब्राह्मणों का पूरा अधिकार था और राजाओं पर भी इनका पूरा-पूरा प्रभाव था। वैश्य लोगों को बिना कर दिये हुए भूमि का भी अधिकार प्राप्त न था। प्रायः सम्भ्रान्त क्षत्रिय ही भूमि के अधिकारी होते थे। वैश्य लोग उनकी आधीनता में ही भूमि जोता करते थे। राजाओं को भूमि का अधिकार अनार्यों की विजय के उपलक्ष में प्राप्त हुआ था।

अथर्ववेद के पौष्टिक सूक्तों में किसानों, व्यापारियों तथा चरवाहों की कुछ ऐसी प्रार्थनायें भी मिलती हैं जिनमें अपनी सम्पत्ति की वृद्धि के लिए देवताओं से याचना की गई हैं। इन प्रार्थनाओं में हल, बीज, धान्यवृत्ति, यथाकाल वर्षा, कृषि-उत्पत्ति, पशु-वृद्धि आदि से सम्बन्ध रखने वाली प्रार्थनाओं के अतिरिक्त ईतियों, जानवरों तथा दस्युओं से बचने के लिए भी प्रार्थनायें की गई हैं। साथ ही इन प्रार्थनाओं में नये-नये चरागाहों की खोज तथा कृषि में उत्तरोत्तर वृद्धि का भी आभास मिलता है। हल भी क्रमशः बढ़ता गया है। पहले कम बैल खींचा करते थे, किन्तु २४ बैलों द्वारा खींचे जाने वाले हल का भी उल्लेख मिलता है। कठक संहिता में हल के कूँड़ का भी वर्णन आया है। शतपथ ब्राह्मणमें कर्षण, वपन, कर्त्तन, मर्दन आदि का भी उल्लेख है। साथ ही गोबर की खाद के बारे में भी निर्देश मिलता है। परन्तु अथर्ववेद में जानवरों की खाद का मूल्य अधिक माना गया है। चावल, जौ, मूँग, उर्द, तिल, गोधूम, मसूर आदि विभिन्न अन्नों के पैदा करने का भी वर्णन मिलता है। वाजसनेयि संहिता में इन समस्त धान्यों की सूची दी हुई है

तथा उपज की ऋतुओं का भी उल्लेख है। जैसे जौ जाड़े में बोया जाता है तथा गर्मियों में पकता है। चावल वर्षा ऋतु में बोया जाता है और हेमन्त में पकता है तथा मूँग, उर्द आदि और बाद में काटे जाते हैं। उस समय एक साल में दो फसलें हुआ करती थीं।

बाजसनेयि संहिता में विभिन्न व्यवसायों की सूची मिलती है। इस काल में प्रमुखतया तेली, अग्निप्रदीपक, नापित (नाई), धोबी, कसाई, प्यादे, समाचारवाहक, जौहरी, रस्सी बनाने वाले, रँगरेज, रथकार, धनुष्कार, गंधी, सुनार, लुहार, कुम्हार आदि अपना-अपना व्यवसाय किया करते थे। बाजसनेयि संहिता में यज्ञ-वेदी-निर्माण की विधि भी दी हुई है, जिससे तत्कालीन वास्तु-विद्या की उन्नति का भी प्रमाण मिल जाता है। तुरही, ढोल आदि वाद्यों का भी उल्लेख मिलता है, जिन्हें बजाकर नट लोग माँगा करते थे तथा नाविकों का भी वर्णन मिलता है। उस समय १०० पतवारों के बड़े-बड़े पोत (जहाज) समुद्री यात्रा के काम में लाये जाते थे। अथर्ववेद में एक राज्य का विनाश जहाज में छेद होजाने पर डूब जाने से बतलाया गया है। शतपथ ब्राह्मण में व्यापारियों एवं वाणिज्य कर्म का उल्लेख मिलता है। ऐत्तरेय ब्राह्मणों में सेठ-साहूकारों का मी वर्णन आया है। उस काल में स्त्रियाँ ही प्रायः रँगाई का कार्य किया करती थीं। साथ ही काढ़ना, चटाई बुनना, डलिया बनाना आदि भी स्त्रियों का ही कार्य था।

बाजसनेयि संहिता में लोहा, पीतल, सोना, चाँदी, ताँबा, शीशा, टीन आदि का वर्णन आया है। ऋग्वेद में इतनी धातुओं का उल्लेख नहीं मिलता। शीशा तौल के काम में आता था। ताँबे के बर्तन बनाये जाते थे। चाँदी के आभूषण, तश्तरियाँ तथा सिक्के बनाये जाते थे। उस समय समाज में सोना अधिक काम में लाया जाता था। यह सोना इन्द्रान जैसी नदियों तथा अन्य खानों से पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होता था। इसके हार, चूड़े, कंगन, कर्णाभूषण तथा प्याले बनाये जाते थे। इसकी तौल भी निश्चित थी। 'हस्तिय' शब्द के आधार पर उस काल में हाथियों के पालने का भी आभास मिलता है।

३—राजनैतिक स्थिति:—उस समय छोटी-छोटी रियासतों से ही एक राज्य बनता था। ऐत्तरेय ब्राह्मण में देवासुर-संग्राम को ही राज्य-स्थापना का कारण बतलाया है। क्योंकि देवों की पराजय इसी कारण हुआ करती थी कि उनका कोई राजा नहीं था। अतः असुरों पर विजय प्राप्त करने के लिए उन्होंने राजा का निर्वाचन आवश्यक समझा था। वेदों तथा ऐत्तरेय ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में अधिराज, राजाधिराज, सम्राट् सार्वभौम, एकराट् आदि का उल्लेख मिलता है। राजाओं के राजतिलक के अवसर पर विविध यज्ञ किये जाते थे। बाजपेय, राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञ केवल राजाओं के लिए ही हुआ करते थे। अश्वमेध यज्ञ का अधिकार एक सार्वभौम के लिए ही था। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार राजसूय यज्ञ करने वाला एकराट्, बाजपेय यज्ञ करने वाला सम्राट्, अश्वमेध यज्ञ करने वाला स्वराट्, पुरुषमेध यज्ञ करने वाला विराट् तथा सर्वमेधयज्ञ करने वाला सर्वराट् कहलाता था। शतपथ और ऐत्तरेय ब्राह्मण में दो भरत राजाओं द्वारा विश्व-विजय का वर्णन आया है। इसी तरह के बारह अन्य विश्व-विजयी राजाओं का भी उल्लेख मिलता है। स्वराज्य, वैराज्य, राज्य, अधिराज्य आदि शब्दों का प्रयोग उस समय के सर्वतंत्र, स्वतंत्र, स्वाधिपत्य आदि राज्यों की ओर संकेत करता है। उस काल में प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली के भी चिह्न मिलते हैं। वैदिक साहित्य में राजा के निर्वाचन का उल्लेख मिलता है। राज्याभिषेक के समय राजा को राज्य के समस्त नियम पालन करने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी, राजा मन्त्रियों से सलाह किया करता था तथा राजा को सहायता प्रदान करने वाली एक सभा या समिति होती थी, जो राजा की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश रखती थी। इन सभी बातों के आधार पर तत्कालीन प्रजातन्त्र शासन के बारे में पता चल सकता है। इसके अतिरिक्त राजा के निर्वाचन के समय राय प्राप्त करने के लिए राजा की चिन्ता, स्वामिभक्ति का उपदेश, राजा के सम्बन्धियों और कुटुम्बियों के विरुद्ध वार्त्तायें, पदच्युत राजा का पुनर्निर्वाचन, राज्य-प्राप्ति हेतु पुनः उसका प्रयत्न करना, राज्य मिल जाने पर विशेष उत्सव मनाना, तथा

राजा का अधिराज और देवराज की उपाधियों से विभूषित होना आदि बातें प्रजातन्त्र के आदर्शों की ओर संकेत करती हैं।

शतपथ ब्राह्मण में राजसूय यज्ञ का वर्णन करते हुए यह उल्लेख मिलता है कि राजा इस समय मातृभूमि पृथ्वीसे उसकी अनुमति लेने के लिए प्रार्थना करता है। शासन की रक्षा के लिए इन्द्र, बृहस्पति, अग्नि गृहपति आदि की प्रार्थना करता है। वनस्पति, सोम, कृषि तथा दण्ड-विधान के लिए वरुण, पशुपति, रुद्र, मित्र, सत्य, धर्म आदि की प्रार्थना करता है। राजा में वाक् शक्ति, दृढ़ता, वीरता आदि गुणों के सञ्चार के लिए द्विजातियों द्वारा उसपर सात पवित्र नदियों के जल से स्नान कराया जाता था। न्याय, सत्य तथा धर्म का पुजारी होना ही उसका धर्म था। उसे व्रतादि समस्त नियमों का पालन करना पड़ता था। राज्याभिषेक के समय राजा शपथ लेता था कि यदि मैं राज्य के निर्धारित नियमों के विरुद्ध आचरण करूँ तो मैं अपने सभी धार्मिक-वीरोचित कृत्यों से, अपने पद से, जीवन तथा वंश से भी रहित माना जाऊँ। इस शपथ के बाद चतुर्वर्ण राजा को गद्दी पर बैठाते थे। शतपथ ब्राह्मण बतलाता है कि राजा और ब्राह्मण दोनों ही धर्म के रक्षक हैं। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि राजा का राज्य पर कोई दैवी अधिकार न था। राजा को यह राज्य एक प्रन्यास या धरोहर के रूप में दिया जाता था। प्रजा की उन्नति तथा रक्षा का उत्तरदायित्व उसपर पूर्णरूप से रहता था। अध्वर्यु पुरोहित उसकी पीठ पर एक दण्ड ठोकते हुए अभिषेक किया करता था। जिसका तात्पर्य यह था कि राजा अदण्डय है, वह दण्डधारी है। वह कानून बनाने वाला नहीं अपितु कानून का रक्षक है।

राजा के मन्त्रिण्डल को वेदों में 'आवश्यक रत्न' कहा गया है। अथर्ववेद में इसके लिए राजकर्तृ तथा राजकृत शब्दोंका प्रयोग किया गया है और इन राजकृतों की गणना इस प्रकार है—(१) सूत, (२) रथकार (३) वास्तुकलाविद् (४) ग्रामणी तथा (५) राजा। यहाँ राजा से तात्पर्य राजघराने के लोगों तथा अन्य सम्भ्रान्त व्यक्तियों से है। परन्तु तैत्तिरीयोपनिषद् में इन 'आवश्यक रत्नों' की संख्या १२ दी गई है—(१) पुरो-

हित (२) राजन्य (३) परिभृत (४) महिषी (५) सूत (६) सेनानी (७) क्षत्रिय (८) कोषाध्यक्ष (९) अक्षावाप (द्यूताधिकारी) (१०) भागदुह (कर वसूल करने वाला) (११) ग्रामणी (१२) आखेट सहकारी। शतपथ ब्राह्मण तथा मैत्रेयीसंहिता में इन मंत्रियों की संख्या ३७ तक मिलती है। राजा इनके कार्य का निरीक्षण किया करता था तथा अच्छे कार्यों पर पारितोषिक भी दिया करता था। राजा एक प्रकार का 'असिउत्सव' भी मनाया करता था, जिसमें वह अपनी तलवार को अपने भाई, सूत, रथपति, ग्रामणी तथा अन्य सजातीय कुटुम्बियों को दिया करता था। ऋग्वेद में ग्रामणी का एक सैनिक अधिकारी के रूप में उल्लेख मिलता है। यह मन्त्रिमण्डल राजा के लिए अत्यन्त उपयोगी होता था तथा राजा को हर प्रकार से सहायता प्रदान करता था।

अथर्ववेद में सभा तथा समिति नाम की प्रजापति की दो कन्याओं का वर्णन मिलता है। सभासद, सभासीन, सभापति, सभापाल आदि सभा के पदाधिकारी हुआ करते थे। छांदोग्य उपनिषद् में कहा है कि प्रजापति का कार्य इन दोनों कन्याओं के बिना नहीं चलता था। इस कथन से राजा के लिए इनकी अनिवार्यता सिद्ध होती है। सभाओं में प्रजा के कार्य वाद-विवाद द्वारा बहुमत से निर्णीत हुआ करते थे। वेदों में ऐसी भी प्रार्थनायें मिलती हैं जिनमें सभा के अन्तर्गत वक्तृता तथा वाद-विवाद में विजय प्राप्त करने की कामना प्रकट की गई है। सभा में वाद-विवाद के नियम के उल्लङ्घन करने का संकेत वाजसनेयि संहिता में मिलता है। सभा में बहुमत मान्य रहता था। अथर्ववेद में एक 'नारिस्थ' (Naristha) शब्द आया है, जिसका अर्थ सायण ने अनुल्लङ्घनीय किया है। सभा को उस समय न्यायालय कहा जाता था। नियम उल्लङ्घन करने वाले व्यक्ति को सभापति दण्ड भी दिया करता था। उस समय सभा धर्म तथा न्याय की व्यवस्था किया करती थी। इस प्रकार सभा तो निर्वाचित सदस्यों का न्यायालय था। परन्तु समिति साधारण जनता की सभा थी। राजा का निर्वाचन समिति द्वारा ही हुआ करता था। समिति को यह अधिकार था कि अन्याय करने पर वह राजा को

पदच्युत कर सकती थी। विजय प्राप्त करने के लिये राजा को समिति की सहायता लेनी पड़ती थी।

उस समय शासन-विधान का विकास नहीं हुआ था। उस काल में ग्राम का अधिकारी ग्रामणी होता था। उसके ऊपर उत्तरोत्तर क्रम से दशग्रामी, विंशपति, शतग्रामी और सबसे ऊपर अधिपति होता था जो एक हजार ग्रामों का शासक होता था। अपने क्षेत्र में कर वसूल करने तथा न्याय करने का उत्तरदायित्व इस पर होता था। शासन के प्रायः १८ भाग होते थे और उनके भिन्न-भिन्न अधिकारी होते थे। ऐसे राज्य ही उस समय 'गणराज्य' कहलाते थे।

प्रश्न २६—सूत्र-साहित्य में वर्णित पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन का चित्रण कीजिए।

उत्तर—वैदिक साहित्यके उपरांत जो भारतीय उत्तरकालीन साहित्य मिलता है, उसे प्रमुख रूप से हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—(१) सूत्र (२) इतिहास, तथा (३) स्मृति। इस उत्तरकालीन साहित्य का श्रीगणेश ईसा से लगभग ८०० वर्ष पूर्व हुआ था। यद्यपि इस साहित्य के निर्माण से पूर्व ही इसके विषय एवं स्वरूप की व्यवस्था हो चुकी थी, जिसका कि प्रमाण उत्तरकालीन वैदिक साहित्य में मिल जाता है। वैसे यह साहित्य तत्कालीन हिन्दू तथा बौद्ध एवं जैन सभ्यता का अध्ययन करने के लिए पर्याप्त महत्वशाली है।

किसी विषय को कण्ठाग्र करने की सुविधा के लिए अत्यन्त सूक्ष्म वाक्यों में किया हुआ संग्रह ही सूत्र-साहित्य कहलाता है। यह सूत्र-साहित्य षड्वेदांग के नाम से प्रसिद्ध है। इन वेदाङ्गों के नाम इस प्रकार हैं—कल्प, शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, तथा ज्योतिष। इनमें शिक्षा वेदाङ्ग अत्यन्त उपयोगी है, जिसमें ध्वनियों के नियम तथा उनके विकास का उल्लेख मिलता है। यास्क का निरुक्त वेदार्थ ज्ञान के निमित्त अत्यन्त महत्व रखता है। व्याकरण वेदाङ्ग में लौकिक तथा वैदिक संस्कृत के

शब्दों की व्युत्पत्ति तथा उनके प्रयोग सम्बन्धी नियम दिये हुए हैं। इस वेदांग के अन्तर्गत पाणिनि की अष्टाध्यायी अत्यन्त प्रसिद्ध है कल्पसूत्र के अन्तर्गत श्रौत, गृह्य और धर्म नामक तीन विभाग मिलते हैं। इन सभी सूत्र-ग्रन्थों अथवा वेदाङ्गों में तत्कालीन सामाजिक स्थिति एवं पारिवारिक जीवन की ओर पर्याप्त मात्रा में संकेत मिलता है।

गोल्डस्टकर के मतानुसार पाणिनि का समय ७०० ई० पू० ठहरता है। उसका आधार यह है कि पाणिनि तीन वैदिक संहिताओं तथा यास्क के निघंटु से परिचित थे। श्री भण्डारकर ने बतलाया है कि पाणिनि दक्षिण से परिचित न थे। मैकडानल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'इण्डिया पास्ट' में पाणिनि का समय ३५० ई० पू० माना है। परन्तु कुछ विद्वान् इस तिथि को ठीक नहीं मानते। कुछ भी हो यह कहना अधिक समीचीन होगा कि पाणिनि ५०० ई० पू० उपस्थित थे। पाणिनि के आधार पर यह सिद्ध होता है कि उस समय भारत की भौगोलिक सीमा के अन्तर्गत पूर्व में कलिंग, पश्चिम में सिंधु तथा कच्छ, उत्तर और पश्चिम में तक्षशिला आदि सम्मिलित थे। उसकाल में राज्यों को 'जनपद' कहा जाता था। पाणिनि ने ऐसे २७ राज्यों का उल्लेख किया है, जिनमें से कैकेय, गान्धार, कम्बोज, मद्र, अवन्ति, कुरु, पांचाल, शातव, कोशल, भरत, उशीनर, यौधेय, त्रिज, मगध, विदेह, अङ्ग, बङ्ग आदि प्रसिद्ध हैं। इन राज्यों के नाम प्रायः अपने क्षत्रिय राजाओं के नाम पर हुआ करते थे। ये राजा जनपति कहलाते थे। इन राज्यों के नागरिक 'राजान्पद' कहलाते थे। इन राज्यों के प्रति जनता में उतनी ही श्रद्धा-भक्ति होती थी, जितनी कि स्वदेश के प्रति होती है। इससे तत्कालीन देश भक्ति की भावना का परिचय मिलता है। विभिन्न राज्य एक सुदृढ़ सीमा से बद्ध होने के कारण पृथक्-पृथक् थे। शासन की दृष्टि से इन जनपदों के विश्, नगर, ग्राम आदि विभाग हुआ करते थे। ग्रामों के नाम प्रायः मुखिया के नाम पर होते थे। इसके अतिरिक्त पाणिनि ने तत्कालीन सामूहिक जीवन, शासन-सत्ता, जनसाधारण की संस्थाओं आदि का भी निर्देश किया है। साथ ही तत्कालीन शिक्षा, आर्थिक जीवन, व्यापारिक

संस्थायें, कला आदि का परिचय भी पाणिनि की अष्टाध्यायी से भली-प्रकार मिल सकता है।

पाणिनि के अतिरिक्त कल्प-सूत्र प्रणेता ऋषियों ने अपने-अपने श्रौत, गृह्य तथा धर्म सूत्रों में तत्कालीन सभ्यता एवं संस्कृति का भली प्रकार उल्लेख किया है। इन ऋषियों में से गौतम, बौधायन, वशिष्ठ तथा आपस्तम्भ के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन कल्प-सूत्रों के आधार पर भारत की भौगोलिक सीमा पूर्व में बिहार, उत्तर-पश्चिम में पटियाला, उत्तर में हिमालय तथा दक्षिण में मालवा की पहाड़ियों तक थी। कुछ विद्वानों ने आर्यावर्त्त को गङ्गा-यमुना का अन्तर्वर्ती प्रदेश माना है। वशिष्ठ ने हिमालय तथा विन्ध्याचल एवं पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों के मध्यवर्ती प्रदेश को भारत बतलाया है। गृह्यसूत्रों में तत्कालीन पारिवारिक जीवन का स्पष्ट उल्लेख मिलता है इन सूत्रग्रन्थों में एक गृहस्थ के जन्म से लेकर मरण पर्यन्त समस्त कर्त्तव्यों का निर्देश किया गया है। भारतीय जीवन में जिन १६ संस्कारों का विशेष महत्व माना जाता है, उनका वर्णन भी इन गृह्यसूत्रों में ही मिलता है। इन संस्कारों के नाम इस प्रकार हैं:—(१) गर्भाधन (२) पुंसवन (३) सीमन्तोन्नयन (४) जातकर्म (५) नामकरण (६) निष्क्रमण (७) अन्नप्राशन (८) चूड़ाकर्म (९) कर्णछेद (१०) उपनयन (११) वेदारम्भ (१२) समावर्त्तन (दीक्षान्त) (१३) विवाह (१४) वानप्रस्थ (१५) सन्यास और (१६) अन्त्येष्टि। उस समय समाज में ८ प्रकार के विवाह प्रचलित थे, जो क्रमशः इस प्रकार कहलाते थे—ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गांधर्व, असुर, राक्षस तथा पैशाच। इनमें से प्रथम चार विवाह तो शुभ माने जाते थे किन्तु अन्तिम चार विवाहों को अशुभ एवं अनुचित माना जाता था, क्योंकि इन विवाहों में कन्याओं का अपहरण होता था। उस समय प्रत्येक गृहस्थ को पाँच महायज्ञ करने पड़ते थे। जिनका विवरण इस प्रकार है:—

१—ब्रह्मयज्ञ—इसमें अध्ययन, अध्यापन तथा स्वाध्याय होता था।
२—पितृयज्ञ—इसमें श्राद्ध तर्पण आदि होते थे।
३—देवयज्ञ—होम आदि किये जाते थे।

४—भूतयज्ञ—इसमें वलि दी जाती थी।

५—अतिथियज्ञ—इसमें अतिथि सत्कार किया जाता था।

उपरिलिखित यज्ञों के अतिरिक्त प्रत्येक गृहस्थ को आठ पाक यज्ञ भी करने पड़ते थे, जो सम्भवतः उसकाल के पर्व या त्यौहार थे। उनके नाम गृह्यसूत्रों में इस प्रकार मिलते हैं—आष्टक, श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री, आश्विनी, फाल्गुनी, पार्वण, श्राद्ध।

सूत्रकालीन वर्ण-व्यवस्था अत्यन्त कठोर थी। उसकाल में जाति-व्यवस्था, जातीय विवाह, स्पृश्यास्पृश्य आदि के विचार अत्यधिक बढ़े-चढ़े थे। अन्तर्जातीय विवाह तथा पारस्परिक भोज आदि प्रचलित न थे। सूत्र ग्रन्थों के देखने पर पता चलता है कि प्राचीन ग्रन्थों में जाति एवं विवाह संबंधी ऐसी कट्टरता न थी, क्योंकि गौतम ने एक ब्राह्मण को त्रिवर्ण के हाथ का भोजन करने तथा आपत्तिकाल में शूद्र तक का भोजन करने की व्यवस्था की है। परन्तु एक पुलिस अधिकारी, दाण्डिक, कंजूस, कैदी तथा शत्रु द्वारा छूये हुये भोजन को अपवित्र बतलाया है तथा उसे न करने की आज्ञा दी है। इसके साथ ही आपस्तम्ब ऋषि ने प्रत्येक ब्राह्मण को अपने से निम्न जाति वाले के घर पर भोजन करने के लिए निषेध किया है। उस समय विवाह के लिए वर्ण की अपेक्षा वंश को अधिक देखा जाता था। पाराशर गृह्यसूत्र में एक ब्राह्मण को शूद्रा के साथ भी विवाह करने का उल्लेख है। परन्तु उसकी सन्तान को द्विज नहीं माना है। इन सूत्र-ग्रंथों में चारों वर्णों के पृथक्-पृथक् कर्त्तव्यों का उल्लेख मिलता है। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण को अध्ययन, अध्यापन, याजन, प्रतिग्रह आदि का अधिकार था। क्षत्रिय लोगों को जनता की सुरक्षा एवं देश को विदेशी आक्रमणकारियों से बचाने के के लिये सैन्य-सङ्गठन, कर-ग्रहण आदि का अधिकार था। उन्हें श्रोत्रिय ब्राह्मण, वैद्य, साधु, पीड़ित एवं दुखी व्यक्तियों की रक्षा का भार सौंपा जाता था। वैश्य लोग कृषि, गो-रक्षा, वाणिज्य, मुद्रा-संग्रह आदि की व्यवस्था किया करते थे। शूद्र लोगों के लिए पवित्रता, नम्रता तथा सत्यता का अभ्यास करना, बिना आचमन के स्नान करना, स्वजाति में

ही विवाह करना, संन्यास न ग्रहण करना, तीनों वर्णों की परिचर्या करना, शिल्पवृत्ति करना आदि कर्त्तव्यों का विधान किया गया था। उस काल में नाई, धोबी, कहार, मालाकार, चित्रकार आदि भी होते थे। इतना होने पर भी उस काल में शूद्र अनादृत न थे। सेवा-कार्य के अयोग्य होजाने पर उनका स्वामी उनकी रक्षा करता था। उच्च वर्णों की सेवा-सुश्रूषा करने के कारण उन्हें सहायता पहुँचाने के लिए शूद्र को सम्पत्ति-संग्रह का भी अधिकार था। गुणवान शूद्र नामाक्षर मंत्र का उच्चारण तथा पाकयज्ञ भी कर सकता था।

वर्ण-व्यवस्था की भाँति तत्कालीन गृह्यसूत्रों में जीवन को चार आश्रमों में बाँटा गया है। उन आश्रमों के नाम क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वानप्रस्थ तथा सन्यास हैं। उस समय प्रत्येक व्यक्ति को इन आश्रमों के अनुसार जीवन व्यतीत करना पड़ता था। इन आश्रमों के अनुकूल जीवन न बिताने वालों को द्विजातीय नहीं माना जाता था तथा ऐसे व्यक्ति को जाति एवं समाज से बहिष्कृत माना जाता था। उसके साथ वार्तालाप करना भी निषिद्ध था। उसकी संतान व्रात्य कहलाती थी। उसे यज्ञादि करने का भी अधिकार न था। इस आश्रम-प्रथा के अनुसार ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय अनिवार्य शिक्षा का प्रचार था। आश्रमानुसार प्रत्येक व्यक्ति के कर्त्तव्य इस प्रकार थे। ब्रह्मचर्याश्रम में प्रत्येक व्यक्ति को ब्रह्मचारी रहना पड़ता था। ये ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते थे—उपाकुर्वन तथा नैष्ठिक। इन्हें विद्याध्ययन करने के लिए गुरुकुलों में रहकर गुरुओं की सेवा करनी पड़ती थी। ये लोग भिक्षा द्वारा अन्न प्राप्त किया करते थे। इन्हें २५ वर्ष तक अपने घर से बाहर ही रहना पड़ता था तथा २५ वर्ष बीतने पर ही घर आसकते थे। इसके उपरान्त गृहस्थाश्रम में प्रत्येक द्विजातीय को प्रविष्ट होना पड़ता था। इसमें विवाहादि करके गृहस्थी जीवन बिताना पड़ता था। इस आश्रम में प्रत्येक व्यक्ति को नित्य पंच महायज्ञ तथा यथावसर आठ पाकयज्ञ करने पड़ते थे। उसे दान आदि के द्वारा ऋषियों, अतिथियों, विद्यार्थियों की सहायता करनी पड़ती थी और ५० वर्ष की अवस्था तक सुन्दर और

सुपात्र सन्तान उत्पन्न करके तथा उन्हें उचित शिक्षा दिलाकर पुनः तीसरे आश्रम में प्रवेश करना पड़ता था। इस तृतीय आश्रम में प्रविष्ट होकर प्रत्येक व्यक्ति को एक भिक्षु, ऊर्ध्वचेता तथा एकान्तवासी की भाँति जीवन बिताना पड़ता था। उसे केवल एक बार ही भिक्षार्थ नगर या गाँव में जाने का अधिकार था। जंगलों में एकान्त स्थान में रहना पड़ता था। उसे किसी से आशीर्वाद ग्रहण करने का अधिकार न था। उसे फल-फूल तोड़कर खाने तथा वर्षा के अतिरिक्त किसी भी रात्रि को उसी ग्राम में रहने का अधिकार न था। वह कोपीन धारण करता था। जीवों पर दया करना तथा दूसरों को उपदेश देना ही उसका प्रमुख कर्त्तव्य होता था। उसे स्वयं पाकी बनने का अधिकार न था। इस तरह ७५ वर्ष पर्यन्त वह सत्य और सच्चरित्रता का आचरण करता हुआ वानप्रस्थ आश्रम को व्यतीत करता था। इसके उपरान्त सन्यास आश्रम में प्रविष्ट होकर वनों में ही रहना पड़ता था। केवल कन्द, मूल, फल का ही आहार करना, अपक्व भोजी होना, तप तथा अग्निहोत्र करना, आपत्तिकाल में सिंह आदि द्वारा हत माँस का भक्षण करना, पंच महायज्ञ करना और बलि के लिए मूल, फल तथा पत्ती का ही प्रयोग करना उसके लिए विहित था। उसे पत्नी सहित तप करने की आज्ञा थी। किसी भी जोती हुई भूमि पर टहलना तथा ग्रामवासी बनना उसके लिए निषिद्ध था। वह असंग्रही, जटिल तथा बल्कलधारी होता था। गौतम ने बानप्रस्थी के के लिये भिक्षु शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु बौधायन ने परिव्राजक के लिये भिक्षु शब्द का प्रयोग किया है। भिक्षु का वर्षा में न घूमना बौद्धधर्म के प्रभाव का द्योतक है। बौधायन ने संन्यासी के लिए भिक्षु, यति, प्रव्रजिन्, नैष्ठिक आदि शब्दों का प्रयोग किया है। आपस्तम्ब ने अनियमित साधु को शाक्य या बौद्ध कहा है तथा सन्यासी को संसार के वासनामय सुख-दुःखादि तथा वेदादि ग्रंथों को छोड़कर आत्मज्ञाना-वलम्बी होना बतलाया है।

गौतम के मतानुसार इस काल में धर्मशास्त्र, वेद स्मृति तथा उपवेदों के अनुसार न्याय होता था। राजा को नियम बनाने का अधिकार न

था। विभिन्न जाति के प्रमुख व्यक्तियों द्वारा ही धर्म-नियम बनाये जाते थे। राजा का कर्त्तव्य वर्णों तथा आश्रमों तथा जनपदों की देखभाल करना था। किसान, व्यापारी, साहूकार आदि प्रत्येक वर्ग अपने नियम स्वयं बनाया करता था। वशिष्ठ का कथन है कि किसी लिखित प्रमाण के अभाव में पड़ौसी और उस वर्ग के नियमानुसार न्याय होता था। गौतम के मतानुसार राजा को उपज का दशम, अष्टम, अथवा षष्ठांश मिलता था। महीने में एक बार लोगों से बिना कुछ दिए ही काम लिया जाता था, इससे उस काल की बेगार-प्रथा का संकेत मिलता है। राजा व्यापारियों से १/२०, मवेशियों से १/१५ तथा अन्य वस्तुओं से १/१६ कर रूप में लिया करता था। राजा को सम्पत्ति का उत्तराधिकार न था। विवाह अपने गोत्र तथा माता के ६ गोत्रों को छोड़कर ही हुआ करते थे। पुत्र के स्थान पर ६ गोत्र तक के सपिण्डों को उत्तराधिकार ग्रहण करने का अधिकार था। आपस्तम्ब के अनुसार पुत्रों के अभाव में कन्या को भी उत्तराधिकार विहित था। वैसे बहुधा बड़े पुत्र को ही उत्तराधिकार प्राप्त होता था। स्त्रियाँ गृह्य संस्कार तथा वैदिक श्रौत विधानों को नहीं कर सकती थीं। वे उत्तराधिकार तथा संस्कारों के लिए स्वतंत्र न थीं।

उस काल में धोखे से आक्रमण करना, चोरी करना, व्यभिचार करना बड़े अपराध माने जाते थे। इन अपराधों के लिए शूद्रों की सम्पत्ति हरण कर ली जाती थी, परन्तु ब्राह्मणों को इन अपराधों के लिये केवल अन्धा करके छोड़ दिया जाता था। क्षत्रिय यदि ब्राह्मण को गाली देता उस पर ५०) रु० और यदि वैश्य को गाली देता तो २५) रु० दण्ड देना पड़ता था। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार ही व्याज भी ली जाती थी। शूद्रों से प्रायः अधिक तथा द्विजाति वालों से कम व्याज ली जाती थी आपत्तिकाल में वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी नियम शिथिल भी कर दिये जाते तथा ब्राह्मण एवं क्षत्रिय भी खेती कर सकते थे, अन्यथा वे जाति-च्युत कर दिये जाते थे।

कल्पसूत्रों में जिस जीवन का वर्णन है वह ग्रामीण जीवन है, नाग-

रिक जीवन नहीं है। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र में तो नगर में जाने का भी निषेध मिलता है। बौधायन का कथन है कि धूल से भरे हुए नगरों में रहने से मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता। इसी प्रकार हल, सीता (जुता हुआ खेत) पर्जन्य, इन्द्र, आदि शब्दों के आधार पर यही सिद्ध होता है कि उस समय का जीवन कृषि-प्रधान था। अधिकांश बातें ग्रामीण जीवन से ही सम्बन्ध रखती हैं। वैसे कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनके आधारपर नगरों का भी संकेत मिलता है। जहाँ तहाँ चारागाहों तथा पार्वतीय प्रदेशों का भी उल्लेख मिलता है और विशेषकर यज्ञों के लिए ऐसी ही भूमिका संकेत है। आपस्तम्ब ने एक चोर का राजा के हाथों द्वारा पीटे जाने का वर्णन किया है। नगर और ग्रामों में सुरक्षा के लिये योग्य एवं बलशाली व्यक्ति रहते थे, जो नगर के चारों ओर एक योजन की दूरी तक तथा ग्रामों में दो मील के घेरे में चौकीदारी करते थे। यदि किसी नगर या ग्राम में चोरी होजाती थी, तो उन लोगों से ही सारा माल वसूल किया जाता था। अतः सूत्र-काल में जीवन अत्यन्त व्यवस्थित एवं नियंत्रित होगया था। उस काल में समुद्र यात्रा अथवा विदेश यात्रा करना निषिद्ध था। साथ ही जंगली तथा असभ्य लोगों की भाषा सीखने की भी आज्ञा न थी। इस प्रकार सूत्रकाल में भारतीय जीवन में एक ओर विकास होरहा था, तो दूसरी ओर संकीर्णता तथा संकुचित भावनायें भी हृदय में घर करती जा रही थीं और भारतवासी एक सीमित जीवन बिताते हुए निर्धारित नियमों का ही पालन करना अपना प्रमुख कर्त्तव्य समझने लगे थे।

———

प्रश्न २७—रामायण तथा महाभारत कालीन सामाजिक एवं धार्मिक जीवन की विवेचना कीजिए।

उत्तर—रामायण तथा महाभारत के जो संस्करण आज प्राप्त हैं वे निस्संदेह सूत्रकाल से ही संबंध रखते हैं। उनका प्रतिपाद्य विषय अवश्य प्राचीन है परन्तु उनकी रचना-शैली एवं वर्तमान आकार को

देखकर निश्चय ही उन्हें पीछे का विकसित रूप मानना पड़ता है। फिर भी आज यह सिद्ध होचुका है कि महाभारत की अपेक्षा रामायण प्राचीन है। रामायण की भौगोलिक सीमा भी उसे प्राचीन सिद्ध करती है। रामायण में भारत की दक्षिणी सीमा विंध्याचल तक ही प्रतीत होती है, उसके परे तो भयानक जंगल एवं असभ्य लोगों के निवास स्थान थे। उस विभाग का नाम दण्डकारण्यक मिलता है। परन्तु महाभारत में दक्षिण के अन्तर्गत भी कई शक्तिशाली राज्य स्थापित होचुके थे और भारतीय सभ्यता का भी समुद्र पर्यन्त विकास होचुका था। महाभारत में पाण्डव एवं कौरवों की कथा के अतिरिक्त अनेक उपाख्यान भी आये हैं जिनमें पौराणिक उपदेशात्मकता विद्यमान है। बहुत से उपाख्यान तो वैदिककालीन ही हैं, जैसे उर्वशी-पुरुरवा की कथा, राजा हरिश्चन्द्र की कथा आदि। महाभारत में कुछ पात्र भी ऐसे मिलते हैं जिनका उल्लेख वैदिक साहित्य में भी मिलता है और जो वैदिक काल में भी पर्याप्त महत्वशाली व्यक्तित्व रखते थे। उनमें से व्यास, जनमेजय, परीक्षित, वैशम्पायन आदि प्रसिद्ध हैं। परन्तु यह अभी तक निश्चय नहीं हुआ है कि ये पात्र वे ही हैं अथवा तन्नामधारी ये दूसरे पात्र हैं। महाभारत का यह आधुनिक रूप पतंजलि के समय (२०० ई० पू०) में ही निर्धारित हो चुका था। इसी काल में भारत पर विदेशियों के भी आक्रमण हुए। इन आक्रमणकारियों में शक, यवन, हूण आदि प्रसिद्ध हैं। महाभारत में जितना इतिहास आज प्राप्त है वह सब समय-समय पर विद्वानों द्वारा जोड़े जाने के कारण दिखाई देता है। वैसे पहले यह ग्रन्थ इतना विस्तृत नहीं था।

रामायण में भी प्रक्षिप्त अंश पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। विद्वानों की राय है कि प्रथम तथा अन्तिम काण्ड तो निश्चय ही प्रक्षिप्त हैं। फिर भी महाभारत की अपेक्षा रामायण में प्रक्षिप्त अंशों की उतनी भरमार नहीं दिखाई देती। रामायण अधिक सुव्यवस्थित एवं सुसंकलित ग्रन्थ है। वैसे कुछ विद्वान् राम-रावण के युद्ध को आर्य-अनार्यों का युद्ध बतलाते हैं और इसी के आधार पर आर्य सभ्यता का विकास लंका तक

स्वीकार करते हैं। वैसे दोनों महाकाव्यों में प्रायः स्त्रियों के कारण ही युद्ध हुए हैं। रामायण का युद्ध सीता के कारण हुआ था और महाभारत के युद्ध का मूल कारण द्रौपदी थी। रामायण के युद्ध में भाग लेने वाली दक्षिण की अधिकांश ऋक्ष-वानर आदि जंगली जातियाँ थीं और दूसरी ओर ऐसे क्रूर एवं आततायी लोग थे, जो ब्राह्मण-धर्म एवं आर्य सभ्यता के विरोधी थे तथा जिनमें अहमन्यता का प्राधान्य था। उस दूसरे पक्ष में अधिकांश लंका, जावा, सुमात्रा आदि टापुओं के ही अधिपति थे। महाभारत के युद्ध में पाण्डवों की ओर से मध्यदेश, पांचाल, काशी, कोशल, मगध, चेदि, मत्स्य, तथा मथुरा प्रदेश के अधिपतियों ने भाग लिया था और कौरवों की ओर से प्रागज्योतिष चीन, उत्तर-पूर्वीय किरात, कम्बोज, यवन, शक, भद्र, कैकेय, सिंध, सौवीर, भोज, दक्षिणापथ, आन्ध्र, अवन्ति आदि प्रदेशों के राजाओं ने भाग लिया था। अतः दोनों महायुद्धों के स्वरूप का वर्णन करने वाले इन दोनों महाकाव्यों में तत्कालीन भारतीय संस्कृति एवं सभ्यताका स्वरूप बिखरा पड़ा है।

इस महाकाव्यकाल में युद्ध से सुरक्षा प्राप्त करने के लिए घोष, व्रज, दुर्ग, ग्राम, नगर आदि होते थे। उस समय सड़कें चौड़ी बनती थीं। उनके दोनों ओर वृक्ष तथा कूओं की व्यवस्था रहती थी। सड़कों पर प्रकाश का भी प्रबन्ध था तथा सड़कों पर प्रायः जल भी छिड़का जाता था। नगरों में अत्यन्त भव्य राज-प्रासाद होते थे। राजधानी के चारों ओर सुदृढ़ परकोटे रहते थे जिनके ऊपर तीक्ष्ण अंकुश तथा शतघ्नी (तोप) लगी रहती थीं। परकोटे के अंतर्गत न्यायालय, क्रीड़ागार, संगति-भवन, मल्लयुद्ध-गृह, वाणिज्यशालायें, विश्रामगृह आदि बने रहते थे। नगरों के प्रायः चार फाटक होते थे। कहीं-कहीं नगर के आठ फाटकों का भी उल्लेख मिलता है। जैसे लंका में ही आठ फाटक थे। राजप्रासाद रत्न-जटित होते थे। राजधानियों में प्रायः देशदेशान्तरों के व्यापारी व्यापार करने आया करते थे। अनेक चतुर शिल्पकार भी नगरों में रहा करते थे। प्रायः उद्यानों का उस समय सभी को शौक था। उद्यानों

में ऐसे ही वृक्ष लगाये जाते थे, जो औषधियों के भी काम आते हैं। आम, आम्रतक, कदम्ब, अशोक, चम्पक, पुन्नाग, नागमुष्य, लकुच, पनस, शाल, ताल, तमाल, मौलसिरी और केतकी आदि के वृक्ष भी उद्यानों की शोभा बढ़ाया करते थे। आँवले और लोध्र के पेड़ भी अधिक लगाये जाते थे। अंकोल, जामुन, पाटल, कुब्जक, करबीर, पारिजात आदि वृक्ष राजकीय उद्यानों की शोभा बढ़या करते थे। सुन्दर-सुन्दर सरोवर भी निर्माण कराये जाते थे, जिनमें हंस कारण्डव, चक्रवाक आदि पक्षी पाले जाते थे। प्रायः विहार-भवन तथा लता-मंडपों के निर्माण की प्रथा भी प्रचलित थी। वे भवन तथा मंडप अत्यंत कारीगरी के साथ निर्मित होते थे। कहीं-कहीं उद्यानों में कृत्रिम पर्वतों का भी निर्माण होता था। जल से परिपूर्ण बावलियाँ भी होती थीं।

दुर्गों के चारों ओर समुद्र जैसी गहरी खाइयाँ होती थीं तथा नगर के चारों ओर सुरक्षा से लिए पहरेदार रहते थे। पहरे के लिये चौकियाँ बनी हुई थीं, जिनसें युद्धोपयोगी समस्त अस्त्रशस्त्रादि सामान सजाकर रखे जाते थे। प्रायः सर्पों की तरह लपलपाती बर्छियाँ लिए हुए सिपाही लोग नगरों का पहरा दिया करते थे। उस समय का शासन दशमलव प्रणाली पर होता था। क्रमशः ग्रामणी, दशग्रामी, शत-ग्रामी तथा सहस्रग्रामी होते थे जो क्रमशः एक, दस, सौ तथा एक हजार ग्रामों पर अधिकार रखते थे और उनके अन्तर्गत दण्ड, रक्षा, कर आदि की व्यवस्था करते थे। राजा की स्वेच्छाचारिता को रोकने के लिए विद्वानों एवं प्रतिष्ठित नागरिकों की सभा एवं समितियाँ होती थीं। राजा का एक मंत्रिमंडल होता था, जिसमें चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य तीन शूद्र तथा एक सूत रहता था। राजा का एक प्रधान-मंत्री होता था, जिसे प्रधानामात्य या अमात्य भी कहते थे। इन समस्त मंत्रियों में से ६ मन्त्रियों की एक परिषद् अलग होती थी, जो राजा की अंतरंग परिषद् कहलाती थी। राजा को प्रतिदिन मंत्रिगृह में सलाह लेने जाना पड़ता था। सभा एक प्रकार का न्यायालय ही होता था। उस काल में अठारह अधिकारी होते थे जो पृथक्-पृथक् विभागों का कार्य-संचालन करते

हुए शासन प्रबंध में राजा का हाथ बँटाते थे। इन अधिकारियों में से मंत्री, पुरोहित, युवराज, चमूपति, दुर्गपाल, अन्तर्वेशिक, कारागृहाध्यक्ष द्रव्य संचयकर्त्ता, प्रादेश (प्रधान जज) नगराध्यक्ष, कार्य-निर्माणकृत्त, सभाध्यक्ष, दण्डपाल आदि प्रमुख थे।

रामायण एवं महाभारत काल में वर्णाश्रम व्यवस्था का अत्यन्त दृढ़ता के साथ पालन होता था। उस समय आर्य एवं अनार्य का भेद उग्ररूप में विद्यमान था। अनार्य लोग दस्यु, म्लेच्छ, चाण्डाल, राक्षस आदि कहलाते थे। इन लोगों को गाँव तथा नगरों के अन्दर रहने की आज्ञा न थी। इनकी बस्तियाँ प्रायः गाँवों एवं नगरों से बाहर हुआ करती थीं। इन लोगों की सम्पत्ति, कुत्ते गदहे, सूअर आदि थे। कफन लेना, जूठी पत्तलें उठाना, श्मशान की देखभाल करना, मुर्दे जलाने की व्यवस्था करना तथा दूसरों का बध करना ही इनके कार्य थे। ये लोग बिना काम, बिना अपनी निश्चित वेषभूषा धारण किये तथा रात्रि के समय गाँव या नगर में नहीं घुस सकते थे। न्यायालयों में इनकी साक्षी मान्य न थी। चारों वर्णों के अतिरिक्त उस समय एक वर्णसंकर जाति भी थी, जो मिश्रित जातियों में परिगणित होती थी। इस तरह अन्तर्जातीय विवाहों द्वारा उत्पन्न सन्तान प्रायः शूद्रों में ही परिगणित होती थी, परन्तु उन्हें उच्चवर्णों में मिलाने का भी प्रयत्न था। कोई भी वर्णसंकर अपने अच्छे कर्मों द्वारा द्विजाति में मिला लिया जाता था। उस समय ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ थे। उनकी श्रेष्ठता का कारण इनका चरित्र तथा इनका सात्विक जीवन था। ब्राह्मण को ही प्रायः उपदेशक, राजमन्त्री, धर्मपालक, यज्ञ कराने वाला पुरोहित, उपध्याय, गृही तथा आचार्य बनाया जाता था। उस समय क्षत्रिय तथा ब्राह्मणों में बड़ी घनिष्ठता थी। क्षत्रियों का मुख्य कार्य रक्षा करना तथा वैश्यों का मुख्यकार्य कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा आदि था। शूद्र लोग सेवा कार्य

क्रिया करते थे। इन्हें संस्कारों का अधिकार न था। उस काल में दास-प्रथा प्रचलित थी। दासों में कुछ युद्ध में पकड़े हुए, कुछ परम्परागत प्राप्त, कुछ क्रीत, कुछ उपहार में मिले हुए तथा कुछ ऋणी होते थे। उस काल में स्त्रियों को वेदादि पढ़ने का अधिकार न था। वैसे समाज में नारी का अत्यधिक मान था और उसकी मान-रक्षा के लिए ही प्रायः युद्ध हुआ करते थे। वैसे रामायणकाल में समाज अधिक आदर्श-वाद पर प्रतिष्ठित था। पिता ही कुटुम्ब का नेता एवं पोषक होता था। सभी परिवार के लोग पारस्परिक सौहार्द्र रखते थे। संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली प्रचलित थी। बड़े भाई की पत्नी को माता के समान समझा जाता था तथा छोटे भाई की पत्नी को पुत्री के समान समझते थे। परंतु महाभारतकाल में आकर समाज उतना आदर्शवादी न रहा। यहाँ यद्यपि संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली थी और बड़े भाई तथा पिता की आज्ञा मानी जाती थी, परन्तु ऐसे भी व्यक्ति थे जो इस नियम का पालन नहीं करते थे। भीम भरत के समान पितृतुल्य जेठे भाई के आदेश का पालन करना अपना कर्त्तव्य नहीं समझते थे। यदि धर्मराज युधिष्ठिर सन्धि करने के इच्छुक हैं, तो भीम इसका घोर विरोध करने पर तुले हुए हैं। इस समय विजय के लिए चोरी करना, झूंठ बोलना तथा धोखा देना कोई पाप नहीं समझा जाता था। साथ ही नैतिक भावना में भी पर्याप्त अन्तर आगया था। रामायण काल में प्रत्येक स्त्री परपुरुष का स्पर्श भी पाप समझती थी। हनुमान जिस समय सीता को अपनी पीठ पर बैठाकर राम के समीप ले चलने का प्रस्ताव करते हैं तो सीताजी इस प्रकार जाना पाप समझती हैं। इतना ही नहीं रावण का स्पर्श होजाने के कारण ही अग्नि-परीक्षा द्वारा अपने पवित्र चरित्र को सिद्ध करती हैं। परन्तु महाभारतकाल में द्रौपदी काम्यक-वन में जयद्रथ द्वारा अप-हरण करली जाती है, परन्तु उसका पुनर्ग्रहण बिना किसी संकोच के कर लिया जाता है।

उस काल में यज्ञानुष्ठानों की धूम थी। प्रायः पुत्र-कामना से भी यज्ञ होते थे और अश्वमेध जैसे महान् यज्ञों का भी समारोह किया जाता था। चारों आश्रमों में क्रमशः जीवन व्यतीत करते हुये एक सामाजिक व्यक्ति को अन्त में निश्रेयस् की प्राप्ति के लिए तप आदि भी करना पड़ता था। पंचाग्नि-साधन तथा तीर्थाटन आदि भी प्रचलित थे। विष्णु की महत्ता अधिक मान्य थी। वैसे ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश तीनों देवताओं के प्रति अधिक श्रद्धा एवं भक्ति प्रदार्शित की जाती थी। प्रायः राजा तथा प्रजा धार्मिक होती थी। उस समय घर-घर में गृहस्थ लोग पंचमहायज्ञ किया करते थे। नैमित्तिक पर्वों के लिए भी बड़ी तैयारियाँ होती थीं और अच्छी प्रकार पर्व एवं उत्सव मनाये जाते थे। कुछ विद्वानों की राय में महाभारतकाल से ही विष्णु को सर्वशक्तिमान मानने की भावना का श्रीगणेश हुआ है। उसी समय से राम तथा कृष्ण को विष्णु का आवतार माना गया है। गीता के अन्तर्गत श्रीकृष्ण को विराट् पुरुष, सर्वनियन्ता, सर्वव्यापी आदि माना है।

सारांश यह है कि रामायण तथा महाभारत दोनों ही महाकाव्य हमारी प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति के स्पष्ट रूप को प्रस्तुत करते हैं। सामाजिक जीवन का चरम विकास उस काल में दिखाई देता है। इस समय ज्ञान-विज्ञान में भी पर्याप्त उन्नति होचुकी थी। युद्ध कला, रण-विद्या आदि में भी भारतीय बहुत आगे बढ़ चुके थे। नैतिक स्तर भी अत्यधिक ऊँचा था। इस तरह तत्कालीन सामाजिक एवं राजनैतिक विचार, सभ्यता, संस्कृति आदि का अध्ययन करने के लिए उक्त दोनों ही ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय हैं। पाप और पुण्य का विचार करते हुए मानव-जीवन के अनुकूल कार्यों का विधान करने में ये दोनों ग्रंथ सर्वोत्कृष्ट हैं। यहाँ कहानियों और उपाख्यानों द्वारा ही मनुष्य को नैतिक एवं धार्मिक शिक्षा दी गई है और इन पौराणिक उपाख्यानों में धर्म के तत्व निहित हैं।

प्रश्न २८—भारतवर्ष में जाति-प्रथा के उद्‌गम एवं विकास की सम्यक् व्याख्या कीजिए।

उत्तर—आधुनिक भारतीय समाज की सबसे बड़ी विशेषता 'जाति प्रथा' है। यह जाति-प्रथा अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान है। इसी प्रथा के कारण उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के निवासी असंख्य वर्ग एवं उपवर्गों में बँटे हुए हैं और पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष, कलह आदि के शिकार बने रहते हैं। यहाँ पर एक मनुष्य को अपनी जाति के अन्दर ही विवाह-संबन्ध स्थापित करना पड़ता है। अपने कुटुम्ब में वह विवाह नहीं कर सकता। कुटुम्ब एक ही पूर्वज से उत्पन्न व्यक्तियों का समूह है। इसे हम सामाजिक इकाई कह सकते हैं और ऐसी कितनी ही इकाइयों के समूह का नाम जाति या उपजाति है।

इस जाति-प्रथा का प्रारम्भ निस्सदेह ब्राह्मणों द्वारा किया गया है। कारण यह है कि यह प्रथा ब्राह्मण-धर्म के विकास के साथ-साथ ही विकसित हुई। वर्मा तथा सीलोन आदि में यह जाति-प्रथा उस समय नहीं मिलती जिस समय बौद्धधर्म ने इन देशों पर विजय प्राप्त की थी। यदि किसी स्थान पर थोड़ा बहुत वर्ग-भेद था तो वह भी नहीं के बराबर था। यह जाति-प्रथा मुख्यतया दो सिद्धान्तों पर आधारित है:—

१—कौटुम्बिक धार्मिक एकता का सिद्धान्त—जिसका विश्वास मृतकों के प्रति किये गये श्राद्ध-कर्म आदि से दृढ़ हुआ है।

२—स्वकर्म-सिद्धान्त—अर्थात् जन्म से ही जाति होती है और प्रायः कर्मानुसार मनुष्य को जातियों में जन्म लेना पड़ता है। यदि वह अच्छे कर्म करता है तो ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य के घर जन्म लेता है, अन्यथा दुष्कर्म के कारण उसका शूद्र के यहाँ जन्म होता है। इस प्रकार वह जिस जाति में जन्म ग्रहण करता है, उसके नियम ही उसे पालन करने पड़ते हैं तथा उसके कर्त्तव्यों के लिये ही उसे बाध्य होना पड़ता है।

हिन्दुओं का दृढ़ विश्वास है कि जाति-प्रथा अनादि काल से चली आ रही है। इसे ईश्वर ने निर्माण किया है। इसका कारण यह है कि ब्राह्मणों ने अपना एकाधिपत्य स्थापित करने के लिए धार्मिक ग्रंथों में इस प्रकार लिखकर प्रचार किया था कि—"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू: राजन्यः कृतः। उरूस्तुदस्य वैश्यश्च पद्भ्यां शूद्रोऽजायते।" अर्थात् ईश्वर के मुख से ब्राह्मणों का जन्म हुआ, बाहू से क्षत्रिय उत्पन्न हुए, जंघा से वैश्य प्रकट हुए तथा पैरों से शूद्र पैदा हुए। इस प्रकार अपनी श्रेष्ठता स्थिर रखने के लिये ब्राह्मण-काल में पुरोहितों एवं ब्राह्मणों ने जाति-प्रथा को जन्म दिया और उसमें ऊँच-नीच के विष का भी संचार किया। नहीं तो इन चारों वर्णों की सृष्टि केवल समाज की सुव्यवस्था करने के लिए हुई थी। कोई भी व्यक्ति किसी भी वर्ण को स्वीकार कर सकता था। एक क्षत्रिय वर्णधारी यदि चाहता था तो ब्राह्मण और देवर्षि तक बन सकता था। स्मृतियों में भी यही विधान मिलता है कि कोई भी मनुष्य जन्म से ही किसी जाति-विशेष का नहीं होता केवल संस्कारों से ही पुनः वर्ण में गिना जाता है। स्मृतियों में स्पष्ट लिखा है—"जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते।" अर्थात् जन्म से सभी शूद्र हैं, संस्कार से ही द्विज कहलाते हैं।

जाति-प्रथा के उद्गम की ओर दृष्टिपात करने पर, पता चलता है कि ऋग्वेद काल में इस जाति-प्रथा का उल्लेख नहीं मिलता। पुरुषसूक्त के अन्तर्गत जो चार वर्णों का उल्लेख मिलता है वह सभी विद्वानों की राय में प्रक्षिप्त है और बाद में ब्राह्मणों द्वारा जोड़ा गया है। हाँ, इतना अवश्य है कि ऋग्वेदकाल में आर्य और अनार्य नाम के दो वर्ग अवश्य विद्यमान थे। आर्य लोग विजेता थे तथा अनार्य लोग विजित एवं यहाँ के मूल-निवासी थे। इसी कारण इन दोनों वर्गों के बीच में बहुत बड़ी खाई उपस्थित होगई थी। परन्तु यह बहुधा देखा जाता है कि जब दो पृथक् संस्कृति एवं सभ्यता वाले व्यक्ति परस्पर एक दूसरे के सम्पर्क

में आते हैं तो दोनों ही एक दूसरे के विचारों से प्रभावित होते हैं। और दोनों में पुनः सम्बन्ध-व्यवहार भी होने लगते हैं। यही कारण है कि जब आर्य लोग भारत में बसगये, तो अनार्यों के साथ भी उनके विवाह सम्बन्ध होने लगे और यह मिश्रण देखकर आर्यों ने अपनी सभ्यता, जाति, रुधिर आदि की रक्षा के विचार से अनार्यों से सम्बन्ध रोकने की चेष्टा की। यद्यपि ऋग्वेद में तो अन्तर्वर्गीय विवाहों के विषय में कोई नियम नहीं मिलता, फिर भी उस काल में भी अनार्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने से रोकने का प्रयत्न हुआ था और इसी के फलस्वरूप आगे चलकर वर्ण-व्यवस्था का विकास हुआ।

प्रारंभ में वस्तुतः दोही वर्ग थे—गोरे (आर्य) और काले (अनार्य) अर्थात् एक वर्ग वह था जो श्वेत रंग का लम्बी नाक तथा लम्बे डीलडौल वाला संस्कृत बोलने वाला ताथ सभ्य विचारों वाला था उसे आर्य कह कर पुकारा जाता था तथा दूसरा वह वर्ग था जो काला, भद्दा, चपटी नाक वाला तथा असभ्य भाषा उच्चारण करता था उसे अनार्य नाम से अभिहित किया जाता था। इन दोनों वर्गों को ही आगे चलकर द्विज तथा शूद्र के नाम से कहने लगे। परन्तु द्विज तथा शूद्र शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के प्रथम ९ मण्डलों में कहीं नहीं मिलता। सम्भवतः उस समय तक वर्ण-व्यवस्था का श्रीगणेश नहीं हुआ था। प्रायः अन्य देशों में भी यही देखा जाता है कि पहले जाति-प्रथा जैसी कोई भावना नहीं मिलती किन्तु समाज में सभ्यता एवं संस्कृति के साथ-साथ वर्ग एवं जाति भी उत्पन्न होजाती हैं। किन्तु आगे चलकर वे वर्ग नष्ट भी होते देखे गये हैं, परन्तु भारत में मनुष्यों द्वारा स्थापित वर्ग अथवा जाति पत्थर की लकीर होगई और फिर किसी भी प्रकार मिटाने पर भी न मिट सकी।

आर्यों एवं अनार्यों का जो एक महान् जातीय भेद ऋग्वेद काल में दिखाई देता है, उसके अतिरिक्त स्वयं आर्यों में भी कुछ भेद-प्रभेद स्थापित होगये थे। जैसे ऋग्वेद में एक ऋषि का यह कथन है कि मेरा

पिता वैद्य है, मेरी माता पिसनहारी है और मैं कवि हूँ।" इस कथन के आधार पर उस काल में वैद्य, पिसनहारी तथा कवियों के पृथक्-पृथक् वर्गों की सूचना मिलती है। परन्तु फिर भी आर्यों में विवाह सम्बन्ध, खान-पान, उद्यम आदि की स्वतंत्रता थी और कोई भी आर्य एक दूसरे को नीच अथवा तुच्छ वर्ग का नहीं समझता था। परन्तु फिर भी ये वर्ण क्यों बने ? इस प्रश्न के बारे में विचार करने पर पता चलता है कि प्रत्येक समाज में सामाजिक सुरक्षा एवं आर्थिक आवश्यकताओं के कारण कुछ वर्ग बनाये जाते हैं, जो समाज की सुव्यवस्था करने के के लिए आवश्यक होते हैं और जिनके बिना समाज का कार्य सुचारु रूप से नहीं चलता । परन्तु जैसे-जैसे समय व्यतीत होता है और समाज में भी संगठन अधिक सुदृढ़ एवं स्थायी होजाता है तब ये वर्ग भी अधिक सुदृढ़ एवं स्थिर होजाते हैं। फिर जिस वर्ग में जो व्यक्ति एक बार प्रविष्ठ होजाता है, उसकी भावी सन्तान भी उसी वर्ग की विशेषतायें सीखकर उसी में रहना अधिक पसन्द करती है।

जब वैदिककाल में यज्ञ आदि धार्मिक कर्मकाण्डों की अत्यधिक प्रबलता हुई, तो यज्ञानुष्ठान को सम्पादित करने वाले एक वर्ग की आवश्यकता हुई जो पूर्ण रूप से यज्ञ-सम्बन्धी समस्त क्रियाओं को स्मरण रखता था तथा यथावसर यज्ञ कराया करता था। यह वर्ग पुरोहित के नाम से अभिहित होता था। परन्तु उस काल में ईश्वर तथा मनुष्य में कोई विशेष पार्थक्य स्थापित नहीं हुआ था। आगे चलकर इन दोनों में भी बड़ी चौड़ी खाई उपस्थित हो गई और मनुष्य को ईश्वर-प्राप्ति कराने में पुरोहित सहायक माना जाने लगा। वैदिककाल में केवल देवताओं को प्रसन्न रखना आवश्यक था, क्योंकि उनकी अनुकम्पा से ही धन-धान्य, पशु आदि की वृद्धि होती थी। अतः प्रत्येक व्यक्ति देवताओं की प्रसन्नता के लिए अन्न, घी, दूध आदि हव्य रूप में समर्पित करके यज्ञ किया करता था इस प्रकार साधारण पूजा पाठ या छोटे-छोटे यज्ञों को तो सभी कर

लेते थे। परन्तु बड़े-बड़े यज्ञानुष्ठानों के लिए समाज को ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता हुई जो अपना अधिकांश समय धार्मिक कार्यों में ही लगा सकें तथा देवताओं की प्रसन्नता के निमित्त नये-नये मन्त्र भी रचते रहें। इस प्रकार आर्यों में से एक विशिष्ट वर्ग यज्ञ आदि करानेवाला बना जो पुरोहित कहलाया। उसे यज्ञ की समस्त कार्य-प्रणाली कण्ठाग्र थी तथा यज्ञ सम्बन्धी सारे पेचीदे कार्यों को वह सुगमता से कर सकता था। इसी को पुनः ब्राह्मण के नाम से पुकारा जाने लगा। यह समाज की यज्ञ-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करता था तथा समाज में इसका अत्यधिक आदर था। इस वर्ग के लड़के भी पुनः मन्त्र पढ़ने तथा उनकी रचना करने में दक्ष होने लगे। क्योंकि पारिवारिक कुशलता इनके लिए सर्वथा सुगम थी और पौरोहित्य वर्ग को जितनी आसानी से उनके पुत्रादि सीख सकते थे उतनी आसानी से अन्य वर्ग के लोग नहीं सीख सकते थे। धीरे-धीरे यह कार्य एक वंश-विशेष की सम्पत्ति बनगया और इस वर्ग का अस्तित्व भी समाज में पृथक् माना जाने लगा। यद्यपि विवाह की स्वतंत्रता उस काल में विद्यमान थी और समाज के अन्य लोगों के साथ इस वर्ग के विवाह होते रहते थे, किन्तु आगे चलकर यह स्वतन्त्रता भी जाती रही।

जिस प्रकार धार्मिक आवश्यकता के कारण ब्राह्मण-वर्ग की उत्पत्ति हुई, उसी प्रकार समाज की सुरक्षा, शत्रुओं से जनता को बचाने तथा नये-नये राज्य स्थापित करने के लिए कुछ बलशाली युद्ध-प्रिय लोगों के वर्ग का निर्माण हुआ। आर्यों को भारत में आकर अनार्यों से कई युद्ध करने पड़े थे। परस्पर आर्यों में भी संघर्ष चलते रहते थे। पराजय के पश्चात् लड़ाई मानों नित्य की बात हो गई है। जान-माल की रक्षा के लिए भी युद्ध हुआ करते थे। फिर समाज में यदि सभी लोग लड़ते ही रहें तो कृषि, वाणिज्य आदि के बिना समाज कैसे चल सकता था। अतः समाज को ऐसे व्यक्तियों की भी आवश्यकता हुई जो सैनिक बनकर समाज

सेवा में अपना जीवन अर्पित करसकें, जिनके पास अस्त्र-शस्त्र हों और जो रथ-घोड़े आदि चलाने में कुशल तथा बलिष्ठ हों। अतः ऐसे समर-प्रिय एवं साहसी लोगों का भी पुनः समाज में संगठन होने लगा और उनका भी एक वर्ग बन गया, जो क्षत्रिय के नाम से अभिहित हुआ। आर्यों के इस वर्ग के हाथमें ही प्रायः शासन-प्रबन्ध एवं राज्य-भार रहने लगा और इनके भी पुनः वंश स्थापित होगए। इस सैनिक वर्ग के लड़के प्रायः कुल-परम्परानुसार सैनिक का ही कार्य करने लगे और इस प्रकार क्षत्रिय वर्ग का भी आर्यों के प्राचीन समाज में एक विशिष्ट स्थान हो गया। राज्यसत्ता एवं प्रभुता प्रायः इस वर्ग के ही हाथमें रहती थी और संकट के समय अपने प्राणों की बाजी लगाकर आर्यों का यह वर्ग शेष समाज की रक्षा करता था। आगे चलकर इस क्षत्रिय वर्ग ने भी अपने विवाहादि सम्बन्ध सीमित कर लिये और आर्यों के समाज रूपी विशाल-वृक्ष की यह शाखा भी अपने को पृथक्-सा समझने लगी।

जैसे-जैसे ब्राह्मण तथा क्षत्रियवर्गों का निर्माण होरहा था वैसे ही वैसे समाज में एक ऐसे नये वर्ग का भी निर्माण होना प्रारम्भ होगया था, जो कृषि-उत्पादन, पशु-पालन, वाणिज्य तथा अन्य-अन्य व्यवसायों में व्यस्त रहता था। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय से इतर आर्य उस काल में 'विश्' कहलाते थे। विश् का धात्वर्थ है 'बैठना'। घूमने-फिरने के बाद जब आर्यों ने अपनी राज्य-सत्ता स्थापित करली और एक स्थान पर स्थायी रूप से रहने लगे तो वहाँ खेती-बारी तथा पशु-पालन करके अपना जीवन-निर्वाह करते थे। उस समय उनकी बस्तियाँ 'विशा' कहलाती थीं। अब ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्ग के अतिरिक्त शेष आर्यों का बोध कराने के लिए भी एक ऐसे शब्द की आवश्यकता हुई जो समाज में व्यवहृत होकर शेष आर्यों का वाचक बने। अतः शेष आर्यों को विश् या आगे चलकर वैश्य के नाम से पुकारा जाने लगा। यह वर्ग खेती, पशु-पालन तथा समाज की आवश्यकतानुसार उद्योग-धंधों में प्रवृत्त रहता था।

वाणिज्य-व्यवसाय भी इसी वर्ग के हाथ में था। धीरे-धीरे इस वर्ग में भी वंश-परम्परा स्थापित होगई और आगे चलकर इस वर्ग का भी अस्तित्व समाज में पृथक् रूप से अपनाया जाने लगा।

चौथे शूद्र वर्ग के बारे में हम पहले ही उल्लेख कर आये हैं कि आर्य तथा अनार्य नाम के दो वर्ग भारत में आर्यों के आते ही स्थापित होगये थे। यहाँ के मूल निवासियों को आर्यों ने शूद्रवर्ग में रखा था, जिनका कार्य समाज की सेवा करना था। इस प्रकार ऋग्वेद के अन्तिम मन्त्रों की रचना के समय तक चारों वर्ग अपनी प्राथमिक अवस्था में स्थापित होगये थे और आर्यों में यह विश्वास भी जमने लगा था कि जातीय विभाजन दैवी है, क्योंकि सभी अपने-अपने गुण एवं कर्मानुसार ही समाज का कार्य करते थे। फिर भी इस काल में अभीतक उपजातियाँ नहीं बनी थीं।

संस्कृत साहित्य में 'वर्ण' शब्द का प्रयोग आज भी रंग के लिए होता है और प्राचीन-काल में भी रंग से ही इसका अर्थ लगाया जाता था। उस समय केवल दो ही वर्ण थे—गोरे तथा काले। अथर्ववेद के निर्माण तक यह वर्ण-भेद की भावना अपने अच्छे विकसित रूप में उपस्थित होगई थी और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वश्य तथा शूद्र पृथक्-पृथक् गिने जाने लगे थे। वैसे ब्राह्मण-काल में आकर इस वर्ण-भेद ने और भी उग्रता धारण की तथा सामाजिक विभाजन की आवश्यकता अनुभव होने लगी। इसी काल में सर्व-प्रथम मिश्रित-वर्गों के माता-पिता से उत्पन्न संतान को 'वर्णसंकर' कहलाने का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार के वर्णसंकर को मनु ने भी अपने स्मृति-शास्त्र में जाति-प्रथा का उद्गम माना है और यह सिद्धान्त किसी सीमा तक सत्य भी है। जाति-रचना में जन्म भी एक मुख्य कारण है, परन्तु यह अकेला ही नहीं, और भी आवश्यक बातें जाति-निर्माण में सहायक हुई हैं। हिंदू-धर्म में जो प्रारंभिक जातियाँ मिलती हैं वे प्रायः एक से धार्मिक विचारों से प्रभावित

दिखाई देती हैं तथा एक सा ही व्यवसाय करने वाली हैं। ऐसी ही जातियों से एक बड़ी जाति की उत्पत्ति होती है। जाति बनने के लिए बहुधा जातीय सम्बन्ध, धर्म तथा व्यवसाय आवश्यक होतेहैं। वैसे जन्म भी एक कारण माना जा सकता है।

इस प्रकार ब्राह्मण-युग में ब्राह्मणों ने अपनी सत्ता सर्वोपरि स्थापित रखने के लिए वर्ण-भेद तथा जाति-भेद को जन्म दिया। ब्राह्मण-काल में पहले तो वर्ण-व्यवस्था हुई और पुनः वर्णों के आधार पर ही विभिन्न जातियों का सूत्र-पात हुआ। ब्राह्मण-धर्म धार्मिक रूप से अपने एक कुटुम्ब में सीमित होगया था। वह अन्य लोगों से पृथक् रहना ही श्रेयस्कर समझता था, अन्यथा उसके महत्व पर व्याघात पहुँचने का भय था। साथ ही यह सामाजिक संस्था इतनी प्रबल होगई थी कि धार्मिक जनता पर इसका प्रभुत्व स्थापित होगया। इस वर्ग ने बौद्ध तथा जैनों को भी अपने सामने न टिकने दिया और बौद्धधर्म का अस्तित्व तो भारत से बाहर भले ही रहगया, किन्तु भारत में तो अधिकाँश बौद्ध ब्राह्मणों द्वारा स्थापित वर्गों में ही मिलगये। इस वर्ग ने जैन, मुसलमान, सिख तथा ईसाई धर्मावलम्बियों को भी प्रभावित किया तथा पहली बार ही उत्तरी भारत में गंगा-जमुना के मध्यवर्ती भाग तथा पूर्व और पश्चिम में भी कितने ही स्थानों पर अपनी सत्ता स्थापित की। इतना ही नहीं, दक्षिण में भी यह वर्ग अधिक प्रबल होकर दृढ़ता के साथ जम गया और धर्म सम्बन्धी कार्यों में कुशलता प्राप्त होने के कारण भारत की धर्म-प्राण जनता में अपना आदर बनाये रहा। आगे चलकर जब इस ब्राह्मण-वर्ग के ही हाथ में शास्त्रों के निर्माण करने का भी कार्य रहा तो अपनी सत्ता सर्वोपरि सिद्ध करने के लिए जाति-प्रथा सम्बन्धी साहित्य की भी रचना होने लगी। अतः जाति-सम्बन्धी जितना विवरण ब्राह्मणों द्वारा निर्मित ग्रन्थों में मिलता है, उतना बौद्ध तथा जैनों के ग्रन्थों में नहीं मिलता।

धीरे-धीरे प्रत्येक वर्ण के नियम आचार-विचार, रीति-रिवाज आदि जब स्थिर कर दिये गये तो उनमें भी वर्ग और उपवर्ग बनने लगे। जैसे कुछ ब्राह्मण चारों वेदों के ज्ञाता थे, कुछ तीन वेदों का ही अस्तित्व स्वीकार कर के उनका ही पारायण करते थे तथा कुछ दो और कुछ एक वेद को ही अपने अनुकूल एवं अपने वर्ग का समझ कर उसका पठन-पाठन किया करते थे। इन्हीं के आधार पर ब्राह्मणों के पुरोहित वर्ग में भी चतुर्वेदी, त्रिवेदी, द्विवेदी आदि उपवर्ग या उपजातियाँ बन गईं और-वंश-परम्परा से ये ही जातियाँ पुनः सामाजिक विषमता उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध हुईं। जैसे ब्राह्मणों में अनेक जाति-उपजातियाँ बनीं, वैसे ही क्षत्रिय, वैश्य आदि में भी अपने-अपने वंश तथा धार्मिक विश्वास के आधार पर जातियाँ बनना प्रारम्भ हुआ। क्षत्रियों में कुछ सूर्यवंशी थे, कुछ चन्द्रवंशी थे, कुछ यदुवंशी थे और कुछ अन्य वंश-परम्परा से सम्बन्धित थे। धीरे-धीरे इन वंशों के आधार पर ही जातियाँ और उप-जातियाँ बन गईं। इस तरह वंश, धर्म तथा व्यवसाय के आधार पर जातियों का विकास हुआ। आज नाई, धोबी, जुलाहा, कोरी, तेली, कुम्हार, चमार, माली, कुँजड़े, बढ़ई, सुनार आदि जितनी उपजातियाँ दिखाई देती हैं, उन सभी का विकास व्यवसाय के आधार पर हुआ है। जैनी, बौद्ध, ईसाई, पारसी, मुसलमान आदि जातियाँ धर्म के आधार बनी हैं और अधिकांश जातियों का निर्माण वंश-परम्परा के आधार हुआ है।

प्राचीन काल में वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत केवल समाज को सुचारु रूप से व्यवस्थित रखने का प्रयत्न हुआ था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये चारों वर्ण अपने आध्यात्मिक आधार पर स्थापित किये गये थे। सामाजिक लोगों के कर्त्तव्यों को उनकी प्रवृत्ति के अनुसार चार हिस्सों में बाँट कर उन्हें नियमित करने का नाम ही वर्ण-व्यवस्था था। इस व्यवस्था को न मानने वाला वर्ण-संकर कहलाता था। ऐसी

वर्ण-व्यवस्था प्रायः उसी समय संभव थी जब ज्ञान-प्रधान सात्विक जीव ज्ञान से समाज की सेवा कर केवल प्रतिष्ठा चाहता है तथा हुकूमत या दौलत की ओर नजर नहीं उठाता। जब वह इज्जत, हुकूमत तथा दौलत तीनों के प्रति लालायित होने लगता है तभी वर्ण-संकरता आती है और पुनः वर्ग-भेद उत्पन्न हुआ करते हैं। इस वर्ण-विभाग द्वारा तो पहले प्रवृत्तियों, आकांक्षाओं एवं गुणों का बँटवारा किया गया था। ज्ञान-प्रधान व्यक्ति को ज्ञान का जीवन बिताने के लिए कहा गया था, क्रिया-प्रधान व्यक्ति को क्रियाशील जीवन व्यतीत करने की अनुमति दी गई थी, व्यवसायी व्यक्ति को व्यवसाय की ओर प्रेरित किया गया था और सेवा करने योग्य व्यक्तियों को समाज-सेवा का भार सौंपा गया था। अपने-अपने कार्यों द्वारा सभी लोग समाज में प्रतिष्ठा एवं सम्मान प्राप्त करते थे और कोई किसी को हेय या तुच्छ नहीं समझता था। इस प्रकार मनुष्य में जो स्वाभाविक रूप से चार प्रकार की प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं, उन्हें देखकर ही यह वर्ण-व्यवस्था स्थिर की गई थी। इस वर्ण-व्यवस्था के अनुसार मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं को ही अधिक देखा गया था। तत्कालीन मनीषियों ने समाज में सात्विक, सात्विक-राजसिक, राजसिक-तामसिक तथा तामसिक इस प्रकार की चार प्रवृत्तियाँ देखी थीं। अतः सांख्य मनोविज्ञान के आधार पर क्रमशः इन चारों प्रवृत्तियों के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण का निर्माण किया था। सात्विक प्रवृत्ति वाला ब्राह्मण था, जिसकी जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टि ही रहती थी। सतोगुण तथा रजोगुण का सम्मिश्रण क्षात्र प्रवृत्ति में था, अतः उसे क्षत्रिय नाम दिया गया। ऐसे ही रजोगुण तथा तमोगुण की प्रबलता वैश्य वृत्ति के अन्तर्गत दिखाई दी अतः इस वर्ग को वैश्य नाम दिया गया और केवल तमोगुण की प्रबलता वाले वर्ग को शूद्र के नाम से अभिहित किया गया। इस प्रकार यह सारा विभाजन मनोवैज्ञानिक आधार पर हुआ था। इसमें

निष्काम प्रवृत्ति वाले लोग ही ब्राह्मण कहलाने के अधिकारी थे और जो हाथ से समाज की सेवा करते थे वे निष्काम-राजस-जीव क्रिया प्रधान होने के कारण क्षत्रिय कहलाते थे। जो लोग उदर से, खाने-पीने के दृष्टिकोण को मुख्यता देकर समाज की सेवा करते थे वे वैश्य कहे जाते थे। इनमें सकाम तमःप्रधान राजस-जीव थे, जिनकी इच्छायें अधिक बलवती हुआ करती थीं। परन्तु जो अनुबुद्ध अवस्था के, सकामता, जड़ता तथा तमोगुण प्रधान थे वे शूद्र कहलाते थे। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक आधार पर पहले समाज का विभाजन हुआ था। वैसे समाज का प्रत्येक प्राणी समान था और उसे किसी प्रकार से घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। आगे चलकर जैसे ही अपने-अपने स्वार्थों की चिंता अधिक बढ़ने लगी और प्रत्येक वर्ण का व्यक्ति अपने को ही श्रेष्ठ समझने का व्यर्थ गर्व करने लगा, उसी समय से वर्ण के स्थान पर जाति का सूत्रपात हुआ और ये सभी नैसर्गिक भेद जाति-भेद में परिणत हो गये। इन जातियों में से ही पुनः उपजातियाँ भी बनने लगीं, जो आज भारत-भर में फैली हुई हैं।

इन प्रारंभिक तथ्यों की उपेक्षा के कारण ही भारत के प्राचीन इतिहास लेखकों में इतना मतभेद है कि ब्राह्मण धर्म की पुस्तकों के अनुशीलनकर्त्ताओं ने तो यह निश्चय करा दिया है कि स्थूलतः यजुर्वेद-काल में ही (१०००-८०० ई० पू०) जाति-प्रथा का अस्तित्व था और बौद्ध ग्रंथों के अध्येताओं का बड़ी दृढ़ता के साथ यह कथन है कि बौद्धयुग में (५६३-४८३ ई० पू०) जाति-प्रथा के कोई चिह्न विद्यमान न थे। परन्तु दोनों ही एक बात भूल गये हैं कि वे उत्तरी भारत के भिन्न-भिन्न देशों का वर्णन कर रहे हैं। पहले का तात्पर्य कुरु तथा पाँचाल देश से है और दूसरा कोशल तथा विदेह की बात कर रहा है। इसके साथ ही वे यह भी भूल गये हैं कि जिन आधारों पर उन्होंने अपने मत की स्थापना की है वे आधार भी एकदम पृथक् हैं। ब्राह्मण-धर्म की पुस्तकों में सामा-

जिक विचार अत्यधिक गहराई के साथ विद्यमान हैं और उनके आधार पर ही प्राय: उपर्युक्त मत दिया गया हैं, जब कि बौद्ध ग्रन्थों में धर्म तथा सामाजिक स्तर में आकस्मिक संबंध ही माना गया है, वहाँ ब्राह्मण धर्म की सी अनिवार्यता नहीं पाई जाती। इसी कारण उन ग्रंथों में ब्राह्मण-धर्म की अपेक्षा जाति-पाँति आदि का गहराई के साथ अध्ययन नहीं हुआ है।

कुछ विद्वान वर्ण-व्यवस्था की श्रम-विभाग से तुलना करते हैं और श्रम-विभाजन के आधार पर वर्णों की रचना बतलाते हैं। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि आर्य-संस्कृति में श्रमका विचार आश्रम-व्यवस्था में रखा था, वर्ण-व्यवस्था में नहीं। श्रम का अर्थ है परिश्रम, मेहनत। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास—ये चार प्रकार के श्रम थे, चार प्रकार को मेहनत थी, जो आत्मा को जीवन-पथ पर आगे-आगे ले चलने में समर्थ होती थी। इनमें कर्म को नहीं छोड़ा जाता था, कर्म के लिए तो श्रम किया जाता था, तभी इन्हें "आ—श्रम" अर्थात् चारों तरफ से श्रम-ही-श्रम कहा जाता था। वर्ण शब्द तो 'वृञ्' वरण धातु से बना है, जिसका अर्थ है वरण करना, चुनना यह वर्ण तो मानवी प्रवृत्तियों के आधार पर बने थे। अतः इनका आधार तो मनोवैज्ञानिक था। यह तो समाज की सुव्यवस्था के लिए स्थापित किये गये थे, परन्तु आगे चलकर इनसे ही ऐसी विषम परिस्थिति उत्पन्न होगई, जिसने देश में सामाजिक पृथकता को जन्म दिया और समाज जाति-उपजातिओं में विभक्त होगया।

प्रश्न २६—मोहनजोदड़ो व हड़प्पा की खुदाई से प्राचीन भारत की सभ्यता के बारे में क्या जानकारी प्राप्त हुई है—विस्तारपूर्वक लिखिए?

उत्तर—मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई से प्राचीन भारतीय सभ्यता की कितनी ही महत्वपूर्ण बातों का पता चला हैं। ये दोनों स्थान एक दूसरे से काफी दूर हैं और सिंध नदी की घाटी में स्थिति है। मोहन-जोदड़ो में कितनी ही ऐसी वस्तुयें मिली हैं जिन पर खुदे हुये लेख अभी पढ़े नहीं जा सके हैं, लेकिन फिर भी जितनी कुछ जानकारी प्राप्त हो सकी है वह भी कम आश्चर्यजनक नहीं। उन सभी बातों के आधार पर पता चलता है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता अत्यन्त उन्नत थी और भारतीय जीवन आज से ४ या ५ हजार वर्ष पूर्व ही अत्यधिक विकसित होचुका था।

सर जोन्ह मार्शल का मत है कि इन दोनों स्थानों में एक बात जो स्पष्ट ज्ञात होती है, वह यह है कि सभ्यता के जो चिह्न यहाँ ज्ञात हुए हैं वे प्रारम्भिक अवस्था में नहीं है, प्रत्युत युगों पुराने हैं। यह सभ्यता भारत में अत्यन्त प्राचीन काल में ही सुदृढ़ होचुकी थी। ईरान, मैसोपो-टोमियाँ तथा मिश्र की सभ्यता से भी यह सभ्यता अधिक प्राचीन प्रतीत होती है। इन स्थानों की खुदाई ने यह सिद्ध कर दिया है कि भारतीय सभ्यता सबसे प्राचीन तथा उत्कृष्ट भी। यदि सर्वत्र नहीं तो कम से कम पञ्जाब व सिन्ध में यह बड़े ही उच्च स्तर पर थी।

प्रोफेसर चाइल्ड का मत है कि सिंध घाटी के लोग उस समय की सुमेरियन सभ्यता से अत्यधिक सम्पर्क रखते थे और ऐसा भी ज्ञात होता है कि सुदूर पश्चिम में भारतीय व्यापारियों की एक बस्ती थी। सिंध घाटी के शहरों की बनी हुई वस्तुयें दजला तथा फरात के बाजारों में बिकने जाया करती थीं। उधर सुमेरु की कला के कुछ आदर्शों, मैसोपोटोमियाँ की कुछ श्रृङ्गार की वस्तुओं तथा एक बेलन के आकार की मुहर आदि की नकलें सिंध वालों ने करली थीं। इनका व्यापार श्रृङ्गार की वस्तुओं या कच्चे माल तक ही सीमित न था, वरन् अरब सागर के

किनारे से लाई गई मछलियाँ मोहनजोदड़ो के खाने में सम्मिलित थी।

मार्शल महोदय ने तत्कालीन सभ्यता की तुलना मैसोपोटोमियाँ की सभ्यता से करके यह निष्कर्ष निकाला है कि भारत में इतने पहले ही रुई कपड़ा बनाने के लिये काम में लाई जाती थी। भारत में रुई से कपड़ा बनाने का काम इतना पहले प्रारम्भ होगया था कि शेष दुनियाँ में २००० या ३००० वर्ष पीछे भी इसका विकास नहीं मिलता। इसके अलावा मोहिनजोदड़ो की खुदाई में जो चौड़े भवन तथा स्नानागार के चिह्न मिले हैं उन्हें देखकर पता चलता है कि मिश्र तथा मैसोपोटोमियाँ में उस समय कहीं भी ऐसे चौड़े घर तथा स्नानागार अदि नहीं बनते थे। उस काल में उक्त दोनों देशों के अन्तर्गत ही देव-मन्दिर, राजप्रासाद तथा शानदार मकबरे बनाने का रिवाज था लेकिन साधारण जनता मिट्टी की छोटी-छोटी दीवारों पर झोंपड़ी डालकर रहा करती थी। परन्तु सिन्ध-घाटी की खुदाई ने यह सिद्ध कर दिया है कि अत्यन्त प्राचीन काल में भी यहाँ लोग सुन्दर-सुन्दर भवन बनाकर रहते थे। वहाँ पर अच्छे-अच्छे स्नानागरों तथा नगर की सफाई के लिए चौड़ी-चौड़ी नालियों के चिह्न भी मिले हैं। प्रायः भवन दो मंजिल के बना करते थे और उनमें मिट्टी की पकी हुई ईंट काम में लाई जाती थीं। नगरों में महलों के अन्दर चौक, स्नानागार, चौकीदारों के लिए रहने के कमरे आदि सभी कुछ रहते थे।

मार्शल का मत है कि सिन्धुघाटी कला एवं धर्म की दृष्टि से भी अत्यन्त उन्नत एवं विचित्र है। इस युग की किसी दूसरे देश में हम कोई ऐसी वस्तु नहीं पाते जो यहाँ की चीनी मिट्टी की बनी हुई भेड़ों, कुत्तों या अन्य जानवरों की मूर्तियों की समानता कर सके। यहाँ पर कुछ ऐसी भी मिट्टी की चीजें मिली हैं जिन पर छोटे सींग वाले कूबड़दार बैलों की नक्काशी होरही है और जो रचना-कौशल एवं सुडौलपन में अद्वितीय

हैं। यहाँ पर कुछ छोटी-छोटी ऐसी मूर्त्तियाँ भी मिली हैं जिनकी समानता किसी भी देश का प्राचीन शिल्प नहीं कर सकता। विशेषकर जब हम यूनानीकला के प्रौढ़स्वरूप को देखते हैं तो पता चलता है कि उससे भी प्राचीनकाल में भारत अपनी कला के अन्तर्गत पर्याप्त विकास कर चुका था और उसके नमूने आज सिन्ध की घाटी में प्राप्त हुए हैं। सिंध घाटी के लोगों के धर्म में भी बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनमें मिलती-जुलती बातें हमें और देशों में नहीं मिलतीं। एक स्थान पर शिव और नन्दी की मूर्ति अङ्कित मिली है जिससे उस काल के लोगों का शैव-धर्म में विश्वास प्रकट होता है।

सिंध घाटी की सभ्यता ईरान तथा मसोपोटोमियाँ की सभ्यता से कहीं समुन्नत थी, क्योंकि यहाँ पर मालदार तथा धनी लोगों के निवास-स्थानों का संकेत मिलता है। साथ ही सड़कों पर दुकानों की पंक्तियों के भी चिह्न मिले हैं। कुछ ऐसी भी इमारतों के भग्नावशेष मिले हैं, जो आजकल के भारतीय बाजार से मिलते-जुलते हैं। प्रो० चाइल्ड का मत है कि सिंध घाटी के शहरों से अनेक शिल्पकला सम्पन्न वस्तुयें बिक्री के लिए विदेशों में जाया करती थीं। प्रायः सामान के विनिमय की सुविधा के लिये तत्कालीन समाज ने कोई सिक्के का प्रचार या मूल्य का माप स्वीकर किया था या नहीं और यदि स्वीकार किया था तो वह क्या था इसका कुछ पता नहीं चला है। बहुत से चौड़े-चौड़े और बड़े-बड़े मकानों के साथ लगे हुये सुरक्षित गोदामों से ज्ञात होता है कि इन घरों के मालिक सौदागर थे। इन घरों की मिट्टी, गिट्टियाँ तथा आकार को देखकर यह पता चलता है कि यहाँ पर सुदृढ़ और सुखी व्यापारियों की बस्ती थी। इन टूटे-फूटे घरों में सोने, चाँदी, कीमती पत्थरों व चीनी मिट्टी के जेवर, पिटे हुये ताँबे के बर्तन, धातु के बने हुए औजार इतनी संख्या में मिले हैं कि देख कर आश्चर्य होता है। गलियों की बनावट, नालियों की सुव्यवस्था तथा मकानों के ढाँचों का स्वरूप देखकर यह

प्रतीत होता है कि यहाँ पर कोई नियमित नागरिक शासन था और सभी कार्य व्यवस्थित ढङ्ग से चलते थे। यह व्यवस्था इतनी सुदृढ़ थी कि बाढ़ के कारण अस्तव्यस्त होजाने पर भी भवन निर्माण तथा सड़कों के सुधार आदि का ज्ञान अच्छी प्रकार हो सकता है।

इन दोनों स्थानों का विनाश कैसे हुआ इसका कुछ पता नहीं चलता। कुछ विद्वानों का यह मत है कि सिंधु नदी में तीव्रतम बाढ़ आजाने के कारण इन सुव्यवस्थित नगरों के निवासी दूर देशों में भाग गये अथवा यहीं नष्ट होगये। दूसरे कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि अनावृष्टि के कारण दुःखी होकर यहाँ के सम्पन्न व्यक्ति दूसरे नगरों में जा बसे और पुनः कुछ वर्षों में ही यहाँ मनुष्यों के न रहने के कारण विनाश-लीला फैल गई। जो भी हो, इतना तो सत्य ही है कि यहाँ के निवासी अत्यन्त विकासशील सभ्यता के अनुयायी थे। उनका रहन-सहन अत्यन्त उन्नत था। उनकी कारीगरी भी अत्यन्त उच्चकोटि की थी। यहाँ पर प्राप्त वस्तुओं के आधार पर विद्वानों ने उनके रूप-रङ्ग, आकार-प्रकार तथा उनकी वेष-भूषा का भी अनुमान लगा लिया है। ये लोग अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित एक व्यवस्थित राज्य प्रणाली के अनुयायी थे। इनकी बहुत सी बातों ने पश्चिमी सभ्यता पर भी प्रकाश डाला है। साथ ही भारत की सभ्यता सम्बन्धी प्राचीनता को आज सभी एक मत से स्वीकार करने लगे हैं। यहाँ पर खुदाई में गृहस्थी के इतने सामान मिले हैं, जिन्हें देखकर तत्कालीन रहन-सहन की उच्चता का पता अनायास ही चल जाता है। कितनी ही मिट्टी की मुद्रायें भी मिली हैं जिनपर विचित्र लेख हैं। मिट्टी के बर्तनों पर कलात्मक मूर्तियाँ कढ़ी हुई मिली हैं। लोहा, ताँबा, सोना, चाँदी आदि धातुयें भी खोदने पर प्राप्त हुई हैं। वहाँ से प्राप्त अधिकांश सामग्री इन्दौर के अजायबघर में सुरक्षित रखी हुई है।

इस प्रकार भारतवर्ष की कथा के इस उषाकाल में हम भारत को नन्हें बच्चे के रूप में नहीं देखते, बल्कि अच्छे युवा रूप में पाते हैं।

वह जीवन और सभ्यता की रीतियों से अनभिज्ञ न था परंतु उसने जीवन की कला, रहन-सहन आदि में पर्याप्त उन्नति कर ली थी और न केवल सुन्दर चीजों का निर्माण करके ही वह शान्त रहा, अपितु आधुनिक सभ्यता की उपयोगी एवं आवश्यक वस्तुयें जैसे स्नानागार, नालियाँ आदि भी तैयार की थीं। भारतीय सभ्यता के इस विकसित रूप को देखकर आज भारतका इतिहास ही बदल गया है और भारतीय सभ्यता के विकास की तिथि और पीछे पहुँच गई है।

———

प्रश्न ३०—प्राचीन भारत के प्रमुख व्यवसाय, वाणिज्य, आमोद प्रमोद तथा आवागमन के साधनों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

उत्तर—प्राचीन भारत में जिस समय आर्य सभ्यता का विकास हुआ, उससे पूर्व आर्यों के प्रमुख व्यवसाय कृषि और पशुपालन थे। परन्तु सभ्यता के विकास के साथ-साथ आर्यों ने नये-नये व्यवसायों की ओर भी ध्यान देना प्रारम्भ किया। अब ये लोग जाल डाल कर सिंह आदि वनैले पशुओं को पकड़ते तथा उनका आखेट भी किया करते थे। हरिणों का भी शिकार खेला जाता था। बड़े-बड़े कुत्ते पाले जाते थे जो सुअरों का शिकार करते थे। पेड़ों को खोखला बनाकर उन्हें नाव के रूप में प्रयोग करते थे तथा दो डाँढ़ लगाकर आसानी से उनके द्वारा नदियाँ पार किया करते थे। ऋग्वेद में घोड़े का भी वर्णन मिलता है, जिसकी पीठ पर चढ़कर प्रायः आर्य लोग आया-जाया करते थे तथा युद्धों में भी जिसका प्रयोग होता था। रथ बनाने में भी आर्य लोगों ने पटुता प्राप्त कर ली थी। साथ ही वीणा-मृदङ्ग आदि बाजे भी बनने लगे थे। नृत्य, गान तथा वाद्यों का पर्याप्त मात्रा में आविष्कार होगया था और लोग जूआ आदि में भी व्यस्त रहा करते थे। जस समय कुछ लोग तिल

आदि से तेल निकाला करते थे, कुछ अग्निप्रदीपक का कार्य करते थे, कुछ नाई का कार्य भी करते थे, क्योंकि आर्यों को केश सजाने तथा बाल बनवाने का शौक था। कुछ लोग धोबी तथा समाचार-वाहक का भी कार्य करते थे। प्रायः घरों पर रस्सी बटना, टोकरी-डलिया बनाना, धनुष बनाना, आभूषण बनाना, लोहे से अस्त्र-शस्त्र तैयार करना, पुष्पों से सुगन्ध निकालना आदि उद्योग-धंधे होते थे। इस प्रकार प्राचीन भारत में जौहरी, सुनार, लुहार, नाई, धोबी, कसाई, प्यादे, डाकिया, रँगरेज, रथकार, मालाकार, कुंभकार आदि अनेक व्यवसायी रहते थे। बड़े-बड़े जहाजों के निर्माण का भी उल्लेख मिलता है। साथ ही सेठ और साहूकारों का वर्णन भी ऐत्तरेय ब्राह्मण में आया है, जिससे ब्याज या सूद के कार्य का भी आभास मिलता है। हाथी, घोड़े, बैल, कुत्ते, बकरी, भेड़ आदि के पालने का भी वर्णन आया है। उस समय में बढ़ई, रथकार तथा स्वर्णकार धौंकनी की जगह पंखे काम में लाया करते थे। डेगची तथा अन्य बर्तन बनाने का भी उल्लेख मिलता है।

प्राचीन भारत के व्यापार अदल-बदल द्वारा होता था। प्रायः गाय ही सम्पत्ति का मापदंड थी, उसी के द्वारा मूल्य का भी निर्धारण होता था। जैसे किसी वस्तु का मूल्य दो गाय, चार गाय आदि। सिक्कों का व्यवहार उस समय नहीं होता था। सिक्कों के स्थान पर वेतन या पारितोषिक के लिये आभूषण, हीरे-जवाहरात आदि दिए जाते थे। वैसे कुछ विद्वानों की राय में "निष्क" (Nishka) नामक सिक्के का वर्णन ऋग्वेद में मिलता है। ऋग्वेद में व्यापार का प्रारम्भिक रूप देखने को मिल सकता है। शुक्ल यजुर्वेद से श्रम-विभाजन की प्रथा भी चल निकली थी और समाज के श्रमियों की गणना में वहाँ रस्सी बनाने वाले रँगरेज चटाई बुनने वाले, जौहरी, महावत तथा अभिनेताओं आदि के नाम आये हैं। यज्ञ कराना भी एक व्यापार ही होगया था क्योंकि इसके लिए भी विपुल धनराशि दक्षिणा के रूप में दी जाती थी। और

एक विशेष वर्ग इसी कार्य को किया करता था। कुछ व्यक्ति सोना तथा रत्न निकालने का व्यापार करते थे। वैसे लोहा, पीतल, सोना, चाँदी, ताँबा, शीशा, टीन आदि का वर्णन वैदिक साहित्य में मिलता है। कुछ लोग संगीतज्ञ होकर वाद्यादि बजाने का ही व्यापार करते थे।

आमोद-प्रमोद के साधनों में घुड़-दौड़ और रथदौड़ का अधिक महत्व था। राजकीय प्रासादों के समीप सर्वसाधारण इन दौड़ों को देखने के लिए एकत्रित होते थे और अत्यन्त आनन्द का अनुभव होता था। जूआ खेलाना भी उस समय का एक अच्छा मनोरंजन था। इसके लिए भले ही आर्थिक संकट भी उठाना पड़ता था परन्तु इसकी प्रथा अत्यंत प्राचीन काल से विद्यमान है। यह जूआ, चौपड़ अथवा सार-पाँसों द्वारा खेला जाता था। इसके लिए राजा और प्रजा सभी लालायित रहते थे। सुरापान भी उस काल में एक आमोद-प्रमोद का साधन था। कुछ लोग सोमरस का पान किया करते थे। इसके अतिरिक्त नृत्य, गान तथा वाद्य भी उस काल के लिए आमोद-प्रमोद के साधन थे। नृत्य एवं गान के निमित्त पारितोषिक देने की भी प्रथा थी। नृत्य में विशेष कर स्त्रियाँ ही भाग लेती थीं। उस समय तक विभिन्न वाद्यों का आविष्कार होचुका था। वंशी, बीणा, दुंदुभी, शंख आदि का उल्लेख तो स्पष्ट ही मिलता है। यजुर्वेद में कितने ही पेशेवर सङ्गीतज्ञों का भी उल्लेख मिलता है, जो वंशी बजाने वाले तथा ढोल बजाने वाले थे। सामवेद में तो ऐसे ही मन्त्रों का संग्रह किया गया है जो विभिन्न अवसरों पर गाने योग्य हैं। इस प्रकार नृत्य, गान तथा वाद्यों द्वारा प्रायः आर्य लोग अपना मनोरंजन किया करते थे। यज्ञ के उपरान्त ऋग्वेद में पहेलियों के पूँछने का भी वर्णन मिलता है इससे यह सिद्ध होता है कि विद्वान् लोग अपना मनोविनोद पहेलियों से किया करते थे। ये पहेलियाँ ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६४ वें मंत्र में तथा दशम मण्डल के ११७ वें मन्त्र के अन्त में आई हैं। ऐसी ही कुछ पहेलियाँ यजुर्वेद में भी मिलती हैं। क्षत्रिय

भावनाओं वाले व्यक्ति घोड़े पर चढ़ने तथा शिकार खेलने में भी अपना मनोविनोद करते थे। यज्ञों की बहुलता को देखकर यह भी पता चलता है कि कुछ यज्ञ धार्मिक भावना के अतिरिक्त केवल आमोद-प्रमोदार्थ भी होते थे। उस समय यज्ञों के उपरान्त तो प्रायः नाचने गाने की भी प्रथा थी। कुछ लोग यज्ञ के उपरान्त ही सोमपान अथवा सुरापान भी किया करते थे।

उस समय समाचार-वाहक तथा डाकिये के रूप में कार्य करने वाले व्यक्तियों का एक विशेष वर्ग था। ये लोग पैदल अथवा घोड़ों के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर समाचार ले जाते थे और मौखिक अथवा लिखित रूप में संदेश दिया करते थे। प्रायः समाचार-वाहकों का पैदल जाना ही अधिक वर्णित है। उस काल में डाक-तार आदि की व्यवस्था ऐसी न थी जैसी कि आधुनिक युग में प्रचलित है। फिर भी रथ अथवा घोड़ों द्वारा शीघ्र समाचार भेजे जाते थे। इस प्रकार रथ, घोड़े, नाव, आदि आवागमन के लिये प्रयोग में लाये जाते थे।
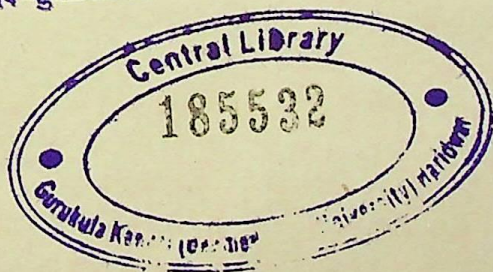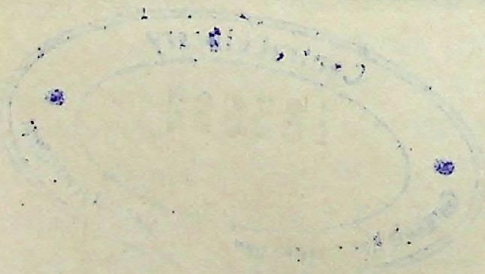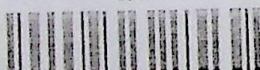
आलोचनात्मक अध्ययन :-

(प्रश्नोत्तर रूप में)

१—तुलसीदास	—श्री भारतभूषण 'सरोज' एम० ए०	२॥)
२—सूरदास	—श्री वासुदेव शर्मा शास्त्री एम० ए०	२॥)
३—कवि प्रसाद	—श्री शम्भुनाथ पाण्डेय एम० ए०	२॥)
४—गद्यकार प्रसाद	—श्री शम्भुनाथ पाण्डेय एम० ए०	२॥)
५—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र	—श्री रामजीलाल बधौतिया एम० ए०	२॥)
६—भाषाविज्ञान	—श्री भारतभूषण 'सरोज' एम० ए०	२॥)
७—साहित्यालोचन	,,	२॥)
८—कामायनी	,,	१)
९—प्रिय प्रवास	,,	१)
१०—साकेत	,,	१॥)
११—बिहारी	,,	२॥)
१२—जायसी	,,	२॥)
१३—उद्धव शतक	,,	१॥)
१४—हिन्दी-साहित्य का इतिहास	—श्री राजनाथ शर्मा एम० ए०	२॥)
१५—हिन्दी भाषा का इतिहास	,,	२॥)
१६—संस्कृत साहित्य का इतिहास	—श्री द्वारिकाप्रसाद एम० ए०	२॥)

आगे और भी छप रही हैं।

विनोद पुस्तक मन्दिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा